महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

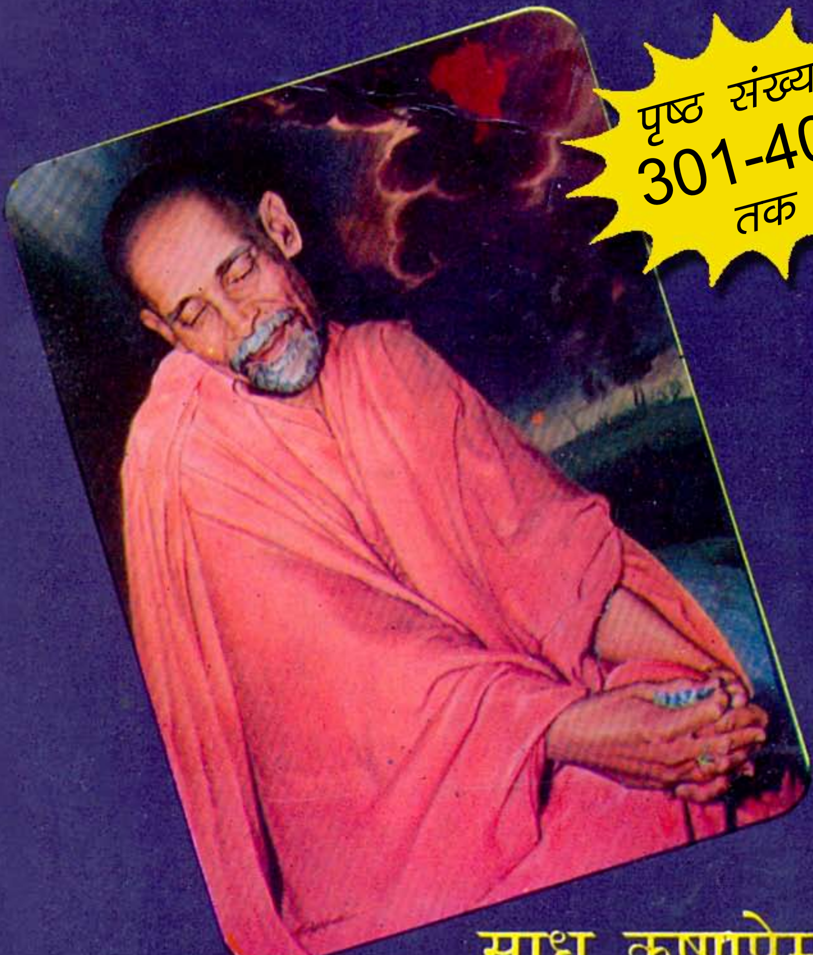

पृष्ठ संख्या 301-400 तक

साधु कृष्णप्रेम

महाशक्ति नित्य संयुक्त रहते हैं। महाशक्तिके संयोगसे ही ईश्वरका ईश्वरत्व है।

इस विषयमें कुछ अंश तक यह उदाहरण दिया जा सकता है। आगमें लोहेका एक टुकड़ा यदि डाल दिया जाय, तो वह एक घण्टेमें तपकर अग्नितुल्य लाल हो जायेगा। इस तप्त लोहेसे यदि हम काष्ठका, या किसी भी अन्य वस्तुका सम्पर्क करेंगे, वह तुरन्त भस्म हो जायेगी। यहाँ लोहा ईश्वर है और महाशक्ति अग्नि है। जैसे लोहा ईश्वरतो अग्निमें एक घंटे पड़ा रह सकता है, अग्निको आत्मसात् करके उसके तापसे किसी वस्तुको जला सकता है, परन्तु काष्ठका तिनका, रूईका कोई अंश, उससे बुना कपड़ा अग्निको आत्मसात् नहीं कर सकता, तुरन्त भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वर ही महाशक्तिको धारण करनेमें समर्थ है, जीव नहीं।

किसी-किसी अधिकार सम्पन्न जीवको ईश्वर साक्षात्कारके पश्चात् महाशक्तिकी कृपासे उनकी उपासनाका अधिकार मिलता है, और वे विश्वमें महायोगी कहलाये जाकर अनन्त कल्याणके हेतु होते हैं।

योगका अर्थ ही है — महाशक्तिसे योग । इसीलिये श्रीकृष्ण महायोगेश्वर हैं। श्रीराम भी योगेश्वर हैं। विशुद्ध सत्वरूपा महाशक्तिने ही इनके द्वारा महान् आसुरी शक्तियोंका पराभव रचाया था। योगेश्वरका अर्थ ही होता है, अखण्ड सत्तासे नित्ययुक्त होना, योगेश्वर देशकालमें अवरुद्ध नहीं होता। वह सर्वत्र सर्वकाल विद्यमान रहता है और सबके हृदयकी सब बात उसे निरावरण अवगत रहती है।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २४

महाशक्ति निष्क्रिय होनेसे ब्रह्ममें एक है, किन्तु भगवान्में वह उनसे पृथक् उनकी दासी है

गोरखपुर
तिथि - उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा । आपका पत्र मिला। आपने मेरे योग-सम्बन्धी पूर्वपत्रकी आलोचनामें लिखा कि आपकी समझमें यह बात नहीं आ पायी कि ईश्वर एवं महाशक्ति दो कैसे संभव हैं। आपकी मान्यता यही है कि महाशक्ति, भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं। इसके उत्तरमें मैं मेरा विनम्र निवेदन व्यक्त कर रहा हूँ। मेरे किसी भी मतको आप उतना ही आदर दें, जितना आपकी बुद्धि स्वीकारे। जिस प्रकार आप निष्कपट भावसे मुझसे प्रश्न करते हैं, मैं निश्छल जो मेरी समझ है, वह बतला देता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें – ***ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते*** इस प्रकार उल्लेख मिलता है। विशिष्ट कोटिके वैष्णव साधकोंने इसका विशद विवेचन किया है, किन्तु इसकी उपयोगिता अन्तर्मुख गुह्यतत्वके साधकोंके लिये ही है। सामान्य पाठकोंके लिये नहीं।. गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें विशेष करके रूप गोस्वामी, एवं जीव गोस्वामीने भी इन शब्दोंकी व्यापकता पर अपना मत प्रकट किया है। प्राचीनकालमें इन तीनों तत्वों पर खूब विमर्शन हुआ है। अवश्यमेव यह सर्वविदित नहीं है।

यद्यपि सत्य एक ही अद्वय तत्व है, परन्तु वह अनुभव-भेदसे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीनों नामोंसे प्रसिद्ध है। यह तत्व महाज्ञान स्वरूप है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। महाज्ञानकी दृष्टिसे उसका नाम ब्रह्म है। उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु सब निष्क्रिय हैं। महायोगकी दृष्टिसे इसी ब्रह्मका नाम है परमात्मा। यह विश्वका अधिष्ठाता एवं नियामक है और साथ ही उसका परिपालक भी है। जीवात्मा उसीका अंश है। भक्तिकी दृष्टिसे इसका ही नाम भगवान् है। भगवान्में अनन्त शक्तियोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति

है, जहाँ परमात्मामें आंशिक अभिव्यक्ति है। ब्रह्ममें इनकी बिलकुल अभिव्यक्ति नहीं है। मैंने अपने पूर्वपत्रमें यही बतानेकी चेष्टा की थी कि अनन्त शक्तिसे योग मात्र भगवान्‌का ही होता है। अतः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुसमर्थ महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्रीराम हैं। महाशक्तिसे नित्य युक्त होनेके कारण ही वे भगवान् कहलाते हैं। ब्रह्म ज्ञानगम्य है। परमात्मा योगगम्य है – उसमें संयोग चित्तवृत्तिके पूर्ण निरुद्ध होने पर हृदय गुहामें होता है। उसी एक सत्यकी व्याख्या विप्रों, मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे की है। भगवान् भक्तिगम्य हैं। ब्रह्म निराकार है, परमात्मा चिन्मय आकार है। बहिर्मुख लोग उन्हें साकार कहते हैं। चित्तके अन्तर्मुख होनेपर समाधि-अवस्थामें मनके निर्विकल्प होजाने पर परमात्माका साक्षात्कार होता है। भगवान् साकार हैं, मात्र भक्तिगम्य हैं, एवं षडिन्द्रिय-वेद्य हैं।

दुग्ध जैसे एक होने पर भी चक्षुरिन्द्रियके संयोगसे श्वेत और रसनेन्द्रियके संयोगसे रसमय प्रतीत होता है, एवं साथ-ही-साथ उदरकी क्षुधा शान्त भी करता है, शरीरको बल एवं ओजदायी होता है, उसी प्रकार अखण्ड परम सत्ता एकमेव अद्वितीय होती हुई भी ज्ञानकी दृष्टिसे निर्गुण, निष्कल, निर्विकल्प, निराकार परम अद्वय स्वरूप है। योगकी दृष्टिसे उसी अद्वय स्वरूपमें योगावस्थाका प्रादुर्भाव दीख पड़ता है। यह योग परमात्मासे जीवात्माका है, जीवात्माका महाशक्तिसे नहीं है। हाँ, योगीको यह अनुभव अवश्य होता है कि जिस परमात्मासे उसका योग हो रहा है, वह परमात्मा अनन्त महाशक्तिसे युक्त है। परन्तु उसमें पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं, मात्र कुछ शक्तियाँ ही अभिव्यक्त हो रही हैं। ज्ञान और ऐश्वर्य योगीके परमात्मामें प्रधान हैं।

भगवदावस्थामें वही वस्तु साकार है। यहाँ भगवान् भी साकार हैं और भक्त भी साकार है। भक्तको अपने अनुभवके साथ ही साथ उसके अपने भगवानका भी अनुभव होता है। परन्तु भक्त जहाँ अपनेको चित् शरीर युक्त देखता है, वहीं भगवान्‌को चिन्मय संस्कार-सम्पन्न षड़िन्द्रिय-गोचर अनुभव करता है।

भगवान्‌में ऐश्वर्यप्रधान स्वरूप भी होता है, और माधुर्यप्रधान स्वरूप भी। माधुर्यप्रधान स्वरूप स्वयं भगवान् हैं और ऐश्वर्यप्रधान स्वरूप भगवान्‌की कलाका अवतरण है। ऐश्वर्यप्रधान स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय भक्ति है। भक्तिका स्वरूप श्रीप्रह्लादजीने श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया है और तुलसीकृत रामचरितमानसमें शबरीको स्वयं भगवान्‌ने बतलाया है। ऐश्वर्यप्रधान भगवान्‌की प्राप्ति न तो कर्मसे संभव है, न ज्ञानसे ही। वह मात्र भक्तिसे ही संभव है।

जिसमें ऐश्वर्यका लेश भी नहीं ऐसे माधुर्य-सार-सर्वस्व भगवान् प्रेमसे प्राप्त होते हैं। वहाँ 'स्व' का उनकी रुचिमें पूर्ण विलय है। वहाँ उनका सुख ही अपना सुख है। वहाँ निज कल्याणका भाव भी नहीं है। 'स्व' का पूर्ण समर्पण है। वहाँ न भुक्ति है, न मुक्ति है। भुक्ति एवं मुक्ति की पिशाची इच्छाका लेश भी जहाँ है, वहाँ प्रेम है ही नहीं और जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ **मधुराधिपतेरखिलं मधुरं** भगवान्‌का अस्तित्व नहीं है। यहाँ ऐश्वर्य आस-पासमें ही नहीं। यहाँ ऐश्वर्य भक्तके पास भगवान्‌को सुख देनेके लिए रहता है। ऐश्वर्यलीलाके साथ वैकुण्ठका सम्बन्ध है और माधुर्यलीलाके साथ गोलोकका। इस गोलोकसे ही नित्य वृन्दावनकी अभिव्यक्ति होती है।

माधुर्यलीलामें महाशक्ति लीला-सम्पादनका समग्र विधान स्वयं करती है और ऐश्वर्यलीलामें महाशक्ति महालक्ष्मी स्वरूपा भगवान्‌की चरणसेवामें नियुक्त रहती हैं इन महाशक्तिके संयोगसे ही ऐश्वर्ययुक्त भगवान्, कैलासमें शिव-शक्तिके रूपमें, साकेतमें सीता-रामके रूपमें, श्रीमन्नगरमें कामेश्वर-कामेश्वरीके रूपमें, वैकुण्ठमें लक्ष्मी-नारायणके रूपमें दर्शन देते हैं। ये ही महायोगेश्वर हैं। देव-दानवों, सुर-असुर सभीमें इन्हीं महायोगेश्वर भगवान्‌की आंशिक शक्तियाँ निहित रहती हैं। संक्षेपमें मैंने आपके प्रश्नका उत्तर दे दिया है।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २५

विभूतियोंके दर्शनसे विश्वास पुष्ट होता है

गोरखपुर
निश्चित तिथि अज्ञात

श्रीहरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा । आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि विभूतियाँ तो मात्र मायिक हैं, उनकी परमार्थ साधनामें क्या आवश्यकता है ?

आपके प्रश्नके उत्तरके रूपमें मुझे इतना ही कहना है कि जो साधना प्रारंभ करते हैं, उनके लिये निष्काम भाव ही सर्वोचित है, क्योंकि सकाम भाव मायिक होनेसे सदा अतृप्त रखनेवाला, एवं आसक्ति बढ़ानेमें हेतु होनेसे हानिकारक एवं अनुचित है। भगवान् भी प्रथमतया भक्तको निष्काम बनानेके लिये और उसके अहंकारको चूर-चूर करनेके लिये भक्तके सम्मुख अपनी शक्तियाँ अप्रकट ही रखते हैं। परन्तु जब भक्त अहंकार रहित होनेके मार्गमें अग्रसर हो जाता है तो भगवान् अपने स्वरूपके प्रकाशके साथ भक्तके विश्वासको परिपुष्ट करनेके लिये अपनेमें इन विभूतियोंका प्रदर्शन भी करते हैं। भक्त जब तक अपने भगवान्के स्वरूपके क्रम-रहस्यको पूरा समझेगा ही नहीं तबतक सूक्ष्म तत्वमें प्रवेश कैसे करेगा। जब तक भगवान्की महिमा भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होगी, तबतक वह अपने इष्टके सौहार्द एवं शक्तिमत्ताके प्रति आश्वस्त कैसे होगा ? अतः प्रवेशार्थीका विश्वास सुदृढ़ करनेके लिये यह महिमा-प्राकट्य अवश्यक होता है। साधारण लोग जिसे असंभव समझते हैं, भगवान्के भक्तके लिये, अपने भगवान्की कृपाके बलपर, वह असंभव नहीं रहता। भक्तको अटूट, अखण्ड विश्वास रहता है कि उसके भगवान्के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। वे कर्त्तुम् समर्थ हैं, अकर्त्तुम् समर्थ हैं और अन्यथा कर्त्तुम् समर्थ भी हैं। भगवान् के लिये असंभव कुछ भी नहीं, क्योंकि सबकुछ उनकी मायाशक्तिके ही आधीन है। अघटन-घटना-पटीयसी मायाशक्ति पर उनका पूर्ण स्वतंत्र अधिकार है।

यद्यपि मायाशक्ति भी भगवान्की होनेके कारण पूर्ण स्वतंत्र है, परन्तु उसका पूर्ण स्वातंत्र्य भी भगवान्के संकल्पसे बद्ध होता है।

यहाँ आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि भक्तमें भगवान्की महिमा-शक्तिको

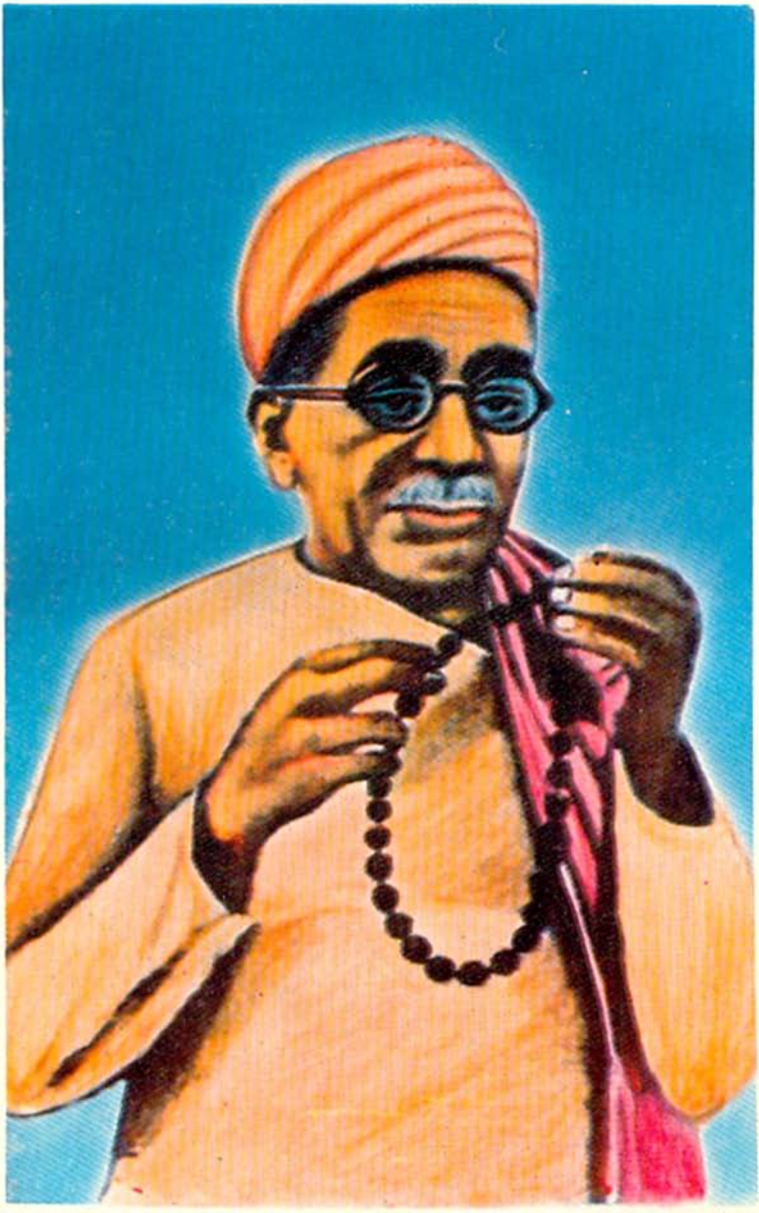

भगवान् नारायणके अंशावतार

ज्ञानके सूर्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका

देखनेकी स्पृहा आवश्यक है अथवा उसका अपने इष्ट पर सरल विश्वास आवश्यक है ?

इसका उत्तर यही है दोनों ही आवश्यक हैं । पहली अवस्थामें भक्तका भी चित्त चंचल और सन्देहयुक्त रहता है, उस समय निष्ठा और विश्वास कहाँसे आवेंगे ? जब भक्त अपने भगवान्‌की महिमाको प्रत्यक्ष देखता है, एक बार ही नहीं, पुनः पुनः उनकी महिमाका अपरोक्षानुभव प्राप्त करता है, तभी उसका मन उसके भगवान्‌पर विश्वस्त होता है। विश्वस्त हो जाने पर ही फिर भक्तका मन अखण्ड शान्तिका अनुभव कर पाता है। आगे जाकर तो विश्वास ही प्रधान होता है। परन्तु प्रारंभमें सौहार्द एवं महिमा और विभूतियोंका प्रत्यक्ष-ज्ञान अनुभवमें आना ही चाहिये। इसके बिना विश्वासकी पूर्ण पुष्टि नहीं होती, एवं विश्वासके सर्वथा पुष्ट हुए बिना न तो समर्पण ही संभव है और न ही निष्ठा।

भगवान्‌में भक्तको इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति-विभूतिके ये तीन क्रम उपलब्ध होते हैं। इनमें भगवान्‌की इच्छाशक्ति सर्वोपरि है। भगवान्‌की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका कार्य भी करती रहती है। जब श्री ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णके सभी बछड़े और सखाओंको चुराकर एक गुफा में बन्द कर दिये, उस समय श्रीकृष्णने मात्र इच्छा ही की थी कि वे सब कहाँ गये ? परन्तु उनके इच्छा मात्र करते ही उन्हें सर्वज्ञान होगया। इसी प्रकार भगवान्‌के द्वारा मात्र इच्छासे सर्वक्रिया भी स्वतः सम्पादित होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इच्छा एवं इच्छाशक्तिमें भेद क्या है ? इसे मैं उदाहरणके द्वारा समझाता हूँ।

हम दिनभरमें अनेकों इच्छायें करते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो भी हम इच्छा करें वह पूर्ण ही हो जाये। इच्छायें वे ही पूर्ण होती हैं, जिनमें भगवान् विश्वनियन्ताकी शक्ति निहित रहती है। शक्तिका अर्थ ही है चैतन्य। जब तक हम शरीराध्यस्त हैं, हमारी इच्छा इच्छामात्र है। उस इच्छामें शक्तिका, चैतन्यका, भगवान्‌का योग नहीं है। आत्मस्वरूप अथवा ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कारके पश्चात् इच्छा इच्छाशक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति के पश्चात् भी इच्छायें रहती हैं ? तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह इच्छा महाइच्छाके रूपमें अवश्य रहती है। वह न रहे तो ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा ।

माण्डूक्योपनिषद कारिकामें गौड़पादस्वामीने स्पष्ट कहा है – **इच्छा मात्र प्रभोः सृष्टिः** । जिस हमारी इच्छामें प्रभुकी, भगवान्‌की शक्ति निहित रहती है,

वह इच्छा उसी क्षण पूर्ण हो जाती है।

सृष्टिके मूलमें है इच्छा। कुम्हार घटादि बनानेके लिये मात्र इच्छा ही तो करता है। कुलालचक्र घूमता है, थोड़ी सी मिट्टीका पिंड उसपर पड़ा है, और उस पर कुम्हारका हाथ रखा है। कैसा आश्चर्य है! हाथ हिलता नहीं और कुम्हारकी इच्छानुसार कभी घड़ा, कभी सकोरा और कभी हाँडी तैयार हो जाती है। इच्छासे सब होता है। उपादान सत्ता स्वरूपमें नित्य ही है, कालचक्र घूम ही रहा है, समग्र उत्पत्तिका, स्थितिका, साथ ही विनाशका भी नियमन कर रहा है।

यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि इच्छा ही बीज है। इच्छाका नाश कदापि नहीं हो सकता। इच्छा हुई और होते ही अनन्तमें चित्रित हो जाती है। इच्छाकी तृप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। उपदेश सुनने मात्रसे वासनाका त्याग हो जाना इस कलिकालमें तो देखनेमें नहीं आया।

इच्छाशक्ति ही चरम शक्ति है। वर्त्तमान सृष्टिमें इच्छाशक्ति सर्व-प्रधान शक्ति है।

जबतक एक भी वासना अतृप्त है, तब तक मुक्ति असंभव है। अतः प्रवृत्तिके द्वारा ही प्रवृत्तिकी निवृत्ति का उपाय है। वैदिक मार्गमें भी यही भाव है– पहले कर्म, फिर त्याग एवं तब ज्ञान। कर्मकाण्डमें तो कामनाका अंत ही नहीं होता। परन्तु इसमें भी जब यह आहुति दी जाती है कि 'ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा" अर्थात् भू आदि त्रिलोक, जिनमें काम्य फलोंका भोग होता है, सब भस्म हो जावें। ज्ञानमार्गमें चित्त-शुद्धिका एक ही उपाय बताया है – निष्काम कर्म। यहाँ भी सभी इच्छा लोकोपकारके लिये समर्पित हैं। भक्तिमार्गमें भगवदिच्छा पूर्ण हो, भगवान्‌को सुख देनेके भावमें इच्छाका समर्पण है। भक्तिमार्गमें भगवान् अपनी महाइच्छासे भक्तकी सभी कामना पूर्ण करते हैं, तब भक्त अपनी सब इच्छा भगवान्‌को अर्पण कर देता है। इस इच्छाके अर्पणके पश्चात् ह्लादिनी अथवा परमानन्दरूपा शक्तिका आविर्भाव होता है। जब तक इच्छाकी पूर्त्ति नहीं हो, तबतक तो परमानन्दरूपा शक्तिके आविर्भाव होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इच्छाकी निवृत्तिके बिना तो आनन्दका उदय असंभव ही है। अतः यह भक्तकी इच्छा-निवृत्ति भगवान्‌की इच्छाशक्ति अथवा महाइच्छासे ही हो पाती है। इसी प्रकार भगवान्‌को सर्वज्ञ मानकर भक्त अपनी ज्ञानशक्ति भी उनमें समर्पित कर देता है। यहाँ पुनः समझ लें – ज्ञान एवं ज्ञान-शक्तिमें बहुत अन्तर है। ज्ञान तो जीवमात्रमें है, परन्तु जीवमात्रमें जो ज्ञान है, वह अल्पतम ज्ञानाभास भर है। जीवको त्रिकालाबाधित, नित्य एवं अखण्ड ज्ञान नहीं है। सुदूर भविष्य जीवके सम्मुख अस्पष्ट है। वहाँ ज्ञानमें विस्मृति भी है। परन्तु

प्रभुमें विस्मरण है ही नहीं। इसलिये ज्ञानमें जहाँ प्रभुका संयोग है, वहाँ ज्ञान ज्ञानशक्ति कहलाता है। इसी प्रकार हमारी समग्र क्रिया, अल्प क्रिया है और प्रभुमें अनन्त कर्म-सामर्थ्य है। अतः जीवको प्रभुकी अपार सौहार्दभरी इच्छाशक्ति, अनन्त ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति इन विभूतित्रयसे ज्यों ही परिचय होता है — जीव अहंकारमुक्त हुआ पूर्ण इच्छा निवृत्त हो जाता है। बस, इच्छानिवृत्तिके साथ ही साधक भगवान्‌की पूर्णानन्दमयी गोदमें प्रवेशलाभ करता है। इसके पश्चात् अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनोंही भगवान्‌की लीला समझमे आनेसे सच्चे समत्वकी प्रतिष्ठा हो जाती है, तब आनन्दका भी भेदन हो जाता है। उस समय आह्लादिनी परमानन्दरूपा चिन्मयी स्थितिमें प्रवेश होता है। अन्तमें राधाकृष्ण, सीताराम, शिवशक्तिके साथ अपने स्वरूपका भी तादात्म्य होजानेसे पूर्ण स्वातंत्र्यका उन्मेष होता है। यही पूर्णता है।

विभूतियाँ विश्वासके सम्मुख तुच्छ अवश्य हैं, परन्तु विभूतियोंके प्रति सच्चा वैराग्य और उनसे आत्यंतिक निवृत्ति बिना उनके प्रत्यक्ष अनुभवके संभव नहीं है। और सच्चा वैराग्य एवं निवृत्ति परमावश्यक है ही।

राधा राधा राधा राधा

(श्रीहरिकृष्णदासजीको चिम्मनलाल गोस्वामीका सस्नेह हरिस्मरण)

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २६

लीलाका प्रकाश चिदाकाशमें ही संभव है चित्ताकाशमें नहीं

गोरखपुर
तिथि उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी

सादर सस्नेह राधा राधा।

आपने जो नित्यलीलाकी बात लिखी है, वह चिदाकाशका व्यापार है, चित्ताकाशका नहीं। चित्ताकाशमें कर्म-संस्कार संचित रहते हैं। मायातीत-पदमें आरूढ हुए बिना नित्यलीलाका सन्धान नहीं मिलता। नित्यलीला जड़-जगतका व्यापार नहीं है। चिन्मय धाममें ही इस नित्यलीलाकी स्वाभाविक स्फूर्त्ति उपलब्ध हो सकती है। गौड़ीय आचार्यगण स्वरूपाशक्तिके ह्लादिनी एवं ह्लादात्मा इन भिन्न-अभिन्न दो रूपोंमें ही नित्यलीलाका वर्णन करते हैं। यह आपको समझाना अनावश्यक है कि स्वरूपाशक्ति अन्तरंगा चित्शक्ति ही है। यह वस्तुतः भगवत्स्वरूपसे अभिन्न होते हुए भी शक्त्यात्मक है। माया जड़शक्ति है, इसलिये मायिक प्रपंच अथवा मायागर्भमें नित्यलीलाकी संभावना ही नहीं है।

प्राचीन आगम शास्त्रों (तंत्र शास्त्र) में शिवशक्तिके यामल रूपका वर्णन आया है। सहजयान बौद्धोंमें भी युगनद्धरूप प्रचलित है। तान्त्रिक और बौद्ध इसे लीला-रसधाराका प्रस्रवण स्वरूप मानते हैं।

तांत्रिक लोग 'अ' एवं 'आ' को एक ही सत्ताके दो दिक् मानते हैं। 'अ' है अनुत्तर एवं 'आ' है आनन्द। अनुत्तरमें प्रकाश मात्र है। यह शिव-शक्तिका अद्वयरूप तत्व है, यही वास्तवमें अद्वैत है। यही 'आ' आनन्द है। 'आ' आनन्दमें प्रकाशरूपी शिव एवं विमर्शरूपिणी शक्तिके मिथुनीभाव या परस्पर अनुप्रवेश से उच्छ्वसित रसधारा श्रृंगार अथवा आदिरसका आश्रय लेती हुई विवर्त-विलास के रूपमें खेलने लगती है।

परन्तु मेरी धारणा है श्रीभाईजीको जिस लीला जगतकी अनुभूति है वह इससे विलक्षण है। वह और अधिक रसमयी है। मैं तो अभी इस रसधाराको

छू भी नहीं पाया हूँ। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को जो लीला-अनुभूति होती है, वह चित्ताकाशका व्यापार नहीं है। मेरी इस मान्यताको आप असंदिग्ध मानें।

आप यह तर्क कर सकते हैं कि शुद्ध चैतन्य तो निष्क्रिय है और लीला क्रियात्मिका है। शुद्ध चैतन्य अचल, ध्रुव है और लीलामें पूर्ण चंचलता है। अतएव शुद्ध चित्स्वरूपमें लीलाका कोई स्थान नहीं। परन्तु यह होते हुए भी मैं यह कह सकता हूँ कि ये तर्क तभी तक उठते हैं जबतक केवल वाचिक ज्ञान है। स्पंदमयी शक्तिका स्वच्छन्द विलास मनकी चंचलता नहीं कहा जा सकता। इसका मायिक इच्छा-ज्ञान-क्रियासे सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो भगवत्स्वरूपका मात्र निगूढ़ रहस्य है। बाह्यदृष्टिसे न तो यह देखी ही जा सकती है, न ही जबतक बाह्यभाव रहता है, तब तक इसका किसीको अनुसंधान ही मिला है। यह वस्तुतः विशुद्ध परमात्माका अपने स्वयंके साथ रमण है। इस खेलमें द्वितीय कहीं कोई नहीं है। यह लीला अनुगत द्रष्टा सखियोंको साक्षीरूपसे अवश्य दिखती है। ये सखियाँ भी मूलरूपमें स्वरूपाशक्तिकी भाव-स्फुरणायें ही हैं। इसका भी प्रयोजन है। अन्यथा मायामुक्त भगवद्भक्त जीव भगवान्‌से सम्बद्ध कैसे हो ? भगवद्भक्त जीव पराभक्तिके प्रभावसे सखी-स्वरूपके साथ योगयुक्त हो जाता है। इसीलिये वह पहले साक्षी अथवा द्रष्टा होकर लीला-दर्शनका अधिकारी होता है। ये जीवन्मुक्त भगवद्भक्त माया और महामायासे अतीत होकर भगवान्‌की विशुद्ध चित-उज्ज्वला,स्वरूपभूता महाशक्तिके अंकाश्रित रहते हैं। यह सांख्यादि सम्मत केवली द्रष्टाका पद नहीं है। हरिकृष्णदासजी ! इस स्थितिका सही वर्णन एवं अनुमान भी मुझे शास्त्रोंमें कहीं नहीं मिला है। यह अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, मात्र अनुभवगम्य अवस्था है, जो श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे भक्तकी अनुभूतिमें पूरी उतरी है। मेरी दृष्टिमें इस युगमें इस भगवद्रसके वे प्रमुख आचार्य हैं। उनके पश्चात् यह प्रीति-सूर्य अस्त ही हो जाने वाला है। शेष क्या कहूँ —

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २७

वृन्दावन मायातीत भूमि है मानस-भूमि नहीं है

गोरखपुर
तिथि उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी

सादर सस्नेह राधा-राधा । आपका पत्र मिला। महाप्रभु चैतन्यके आविर्भाव के पूर्वसे ही तात्विक दृष्टिसे रागमार्गकी भक्ति-साधनाका वर्णन मिलता है। परन्तु यह गुप्तरूपसे साधकोंके भीतर ही परिज्ञात रहा है। आप मेरी इस बातको पूरी तरह सत्य मान लीजिये कि वृन्दावनधाम रसिक भक्तोंकी मानस-विलास भूमि सर्वथा नहीं है। रीतिकालीन कवियोंने भले ही महाभाव स्वरूपिणी राधा, किंवा रसिक-राजशेखर-श्रीकृष्णको अपनी मानस काम-संतृप्तिका साधन बनाया हो. परन्तु आप चैतन्य-चन्द्रोदय पढ़िये, इस नाटकमें आपको विरजा नदीके दूसरे पार पर-व्योमका वर्णन मिलता है। यह नित्य चिन्मय भूमि है। इस स्थानके लताकुंजादि चिन्मय और आनन्दघन हैं। 'भगवत्सन्दर्भ' नामक गौड़ीयग्रन्थमें भी आपको इसका वर्णन मिलेगा। यह भगवान् नारायणका त्रिपाद-विभूति-स्वरूप नित्य-अनन्त-शुद्ध सत्वमय दिव्य परम पद है। वृन्दावन मायातीत भूमि है। यह नित्य है। महा-प्रलयका भी यह नित्य साक्षी है। सृष्टि भी तीन प्रकार की है। १. योनि-संभव सृष्टि २. अयोनि-संभव सृष्टि और तीसरी स्वतः सिद्ध सृष्टि। नित्य चिन्मय वृन्दावनमें तीसरे प्रकारकी स्वतःसिद्ध अयोनि-संभव सृष्टि है और मर्त्यलोकमें योनिसंभव सृष्टि है। आपने 'अप्राकृत नवीन मदन' का उल्लेख भी वैष्णव रस-साहित्यमें अवश्य देखा होगा। यह विरजाके इस पारकी सृष्टिमें नहीं, उस पारकी पर-व्योमके अन्तर्गत सृष्टिका वर्णन है। मेरे पास निम्न ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को आप लिखेंगे तो वे कहीं-न-कहीं से ये ग्रन्थ मँगाकर आपको भेजवा सकते हैं। ये ग्रन्थ हैं १. प्रेमानन्द लहरी, २. राधारस कारिका एवं तीसरा ग्रन्थ है "निगूढार्थ प्रकाशावली"। इन ग्रन्थोंमें राधाकृष्ण तत्व अर्थात् युगलरूपका वर्णन आपको विशद और सुस्पष्ट दार्शनिक विवेचना सहित मिलेगा।

भावदेहके अनन्तर सिद्ध देह प्रसिद्ध है। भावदेह साधक अवस्थामें अभिव्यक्त

होती है। यह भावदेह भी नाम-माहात्म्यके प्रभावसे शीघ्र सुलभ होती है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। परन्तु इसके पूर्व मलशुद्धि आवश्यक है। लीला जगत्में विक्षेप मनके चंचल होनेसे नहीं होता। क्योंकि वहाँ मनकी चंचलता अपेक्षित है। सिद्ध देह साधक अवस्थामें होता नहीं है। साधकका आश्रय सखीके चरण और सिद्ध होने पर श्रीराधाके चरण आश्रय होते हैं। यहाँ साधकका लीलाके प्रति राग रहता है। वह लीलादर्शन और लीलामें सखीका सहयोगी भर रहता है। सिद्धदेहमें प्रीति और प्राप्ति (संयोग-वियोग) के प्रति राग होता है। आप तुलसीदासकृत "श्रीरामनाम-कलामणि-कोश-मंजूषा" नामक ग्रन्थ कलकत्तेकी नेशनल लाइब्रेरीसे लेकर पढ सकते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रभृति देहोंका अतिक्रम करनेके बाद सदेह प्राप्त होने पर भगवान्के नित्य-पार्षद-भावकी प्राप्ति होती है। यह नित्यपार्षददेह सगुण-निर्गुण दोनोंसे अतीत है। इन गौड़ीय गोस्वामियोंके ग्रन्थोंकी अपेक्षा उत्कलीय वैष्णवोंके ग्रन्थोंमें इस मार्गका दार्शनिक विस्तार अधिक सुस्पष्ट देखनेको मिल सकता है। महाप्रभु चैतन्यने उत्कलमें जिस निगूढ-धर्मका शिक्षण दिया था और जो अधिकार भेदसे पंचसखाओंमें आबद्ध रहा, उसकी भी आलोचना आवश्यक रूपसे आप देखें। इनमें तीन ग्रन्थ श्रीभाईजीने मुझे देखनेको दिये थे। उनके नाम हैं प्रेम भक्ति, ब्रह्मगीता, एवं तीसरी पुस्तक थी गुरुभक्तिगीता। ये सभी उत्कृष्टतम तत्वग्रन्थ हैं। और क्या कहूँ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २८

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी परमार्थिक स्थिति

गोरखपुर
तिथि उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला। आपने श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाकी स्थितिके सम्बन्धमें मेरी धारणा पूछी है, इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि किसी भी महापुरुषकी स्थिति तो मात्र स्वसंवेद्य ही होती है। उसे या तो सर्वज्ञ परमात्मा ही सही जान सकता है, और या स्वयं वह महात्मा ही। दूसरे जो भी आकलन करते हैं, वे तो अपनी श्रद्धाके काँटेसे मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं। यह श्रद्धाका काँटा मनके चंचल और अस्थिर होनेसे हिलता-डुलता रहता है। कभी मन श्रद्धावेशमें किसीको साक्षात् भगवान् ही समझ लेता है, और फिर अपने मनमें अश्रद्धा होनेसे उस भगवान्‌को पिशाच समझते भी देर नहीं लगाता। श्रद्धामें सत्य ज्ञान तो होता नहीं है। अतः मुझे आपके प्रश्नका उत्तर देनेमें अतिशय संकोच हो रहा है। यह संकोच ही मेरे पत्रोत्तरमें इतने अधिक विलम्बका हेतु हुआ है।

आपने श्रीगोस्वामीजी (चिम्मनलालजी गोस्वामी) को अनेक पत्र दिये एवं मुझसे उत्तर लिखानेका आग्रह करते रहे। गोस्वामीजी (चिम्मनलालजी गोस्वामी) मेरे पास आते, परन्तु मैं उन्हें पत्रोत्तर नहीं दे पानेके अन्य कोई सत्य कारण बताता रहा। परन्तु मैंने उन-उन कारणोंके सहित वास्तविक पत्रोत्तर नहीं देनेका भीतरी कारण उनके सम्मुख भी उल्लेख नहीं किया। वह वास्तविक कारण यह संकोच ही था। अब आपके पुनः पत्र आनेपर मनसे उस संकोचको छोड़कर उत्तर दे रहा हूँ। इस उत्तरको मेरी भावुक धारणा भी आप मान सकते हैं। मेरे पास इसका कोई सत्य प्रमाण तो है नहीं जो मैं अपने वक्तव्यके समर्थनमें आपको दे सकूँ। हाँ, मेरे कथनको शास्त्र-सम्मत करनेकी चेष्टा मैंने अवश्य की है।

वस्तुतः यह माननेमें तो आपको कहीं कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती कि उपासक भी आत्मा (परमात्मा) है और उपास्य भी आत्मा ही है। परन्तु दोनोंमें

पार्थक्य इतना ही है कि एक माया-बद्ध आत्मा है और दूसरा मायामुक्त आत्मा है। श्रीसेठजीकी यह आध्यात्म-यात्रा कबसे प्रारंभ हुई, यह तो मुझे स्पष्ट ज्ञात नहीं है, किन्तु जैसा वे स्वयं अनेकोंको एवं मुझे भी कह चुके हैं कि वे विक्रमादित्य राजाके मंत्री थे और तभीसे सिद्ध-ज्ञानी थे। अतः मेरी इतनी ही धारणा है कि किसी भी पूर्व-जन्ममें उनकी उपासक आत्मा पर भगवान् नारायण के किसी सिद्ध-भक्त-महापुरुषकी कृपा-दृष्टि अवश्य पड़ी थी। इस कृपादृष्टिके बिना तो कोई भी बद्ध आत्मा परमार्थ-पथका पथिक ही नहीं हो सकता, यह सभी सत्शास्त्रों और महापुरुषोंका एकमत है। अतः सन्त-कृपा अथवा गुरु-कृपा से बिद्ध होनेपर उनमें अन्य बद्ध-जीवोंसे विलक्षणता उदय हुई। यह सत्य था कि वे श्रीसेठजी रूपी बद्ध-आत्मा पर दृष्टिपात करनेवाले सिद्धगुरु-भगवान् अथवा महापुरुष निश्चय ही भगवान् नारायणके ही उपासक थे। अतः श्रीसेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) के भी उपास्य भगवान् नारायण ही रहे। क्योंकि जिस सिद्ध महापुरुषकी दृष्टि जिस किसी जीवपर पड़ती है, उसका इष्ट सिद्धपुरुषका इष्ट ही होता है। सिद्ध सद्गुरुकी दीक्षा अथवा दृष्टिपात् (दोनों एक ही बात है) से उपासक आत्मा श्रीसेठजीमें कुछ विलक्षण शक्तिका संचार हुआ। वह महापुरुष प्रदत्त शक्ति थी जो उनके कर्म अथवा साधनासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती थी। अतः सद्गुरुने उपासकके अधिकारानुसार उनमें नारायणी शक्तिका संचार किया, यह तेज-विशेष आध्यात्मिक-शक्ति थी। नारायणी-शक्ति भगवान् नारायणका स्वाभाविक तेज होती है। इस नारायण-तेजका आकर्षण कर जब कोई महापुरुष अथवा सद्गुरु उसे उपासकमें अनुप्रवेश कराते हैं, तब उनका दीक्षाकार्य सम्पन्न होता है। मृत्युके समय यह शक्ति उपासकको खींचकर उनके इष्टलोक अर्थात् स्वरूपमें ले जाती है।

साधारणतया जिन जीवों पर किसी महापुरुषकी अनुग्रह-दृष्टि नहीं पड़ती अथवा वे जबतक सद्गुरुमुखी नहीं होते, वे मृत्युके अनन्तर देह-कोषसे निकलकर स्वकर्मानुसार अध, ऊर्ध्व अथवा तिर्यक् गति प्राप्त करते हैं। इसी गतिके क्रममें उनका भोग तत्तद् भुवनोंमें सम्पन्न होता है। तदनन्तर अवशिष्ट कर्म भोगनेके लिये कर्मानुरूप देहका आश्रय उन्हें लेना ही पड़ता है। इसके लिये मातृगर्भमें उन्हें प्रवेश करना पड़ता है। इसीका नाम संसार है।

परन्तु सद्गुरुकी दीक्षाके प्रभावसे मृत्युके समय इन महापुरुष अथवा गुरुशक्तिने सेठजीकी तात्कालिक आत्माको खींचकर स्वस्थान नारायणलोकमें प्रवेश करा दिया। इस नारायणी शक्तिका स्वस्थान है वैकुण्ठ। उनके ऊपर इस अन्तिम मृत्युके समय उनकी अपनी कर्मशक्तिका प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि

नारायणीशक्ति उनकी कर्मशक्तिसे प्रबल थी। आत्मा चिदणुरूपा है। अतः नारायणी शक्तिके आकर्षणसे देह त्यागकर वह श्रीसेठजीकी आत्मा सीधे वैकुण्ठमें पहुँच गयी।

वहाँ जानेपर अणुरूपी श्रीसेठजीकी आत्माको नारायणी ज्योतिकी प्राप्ति होती है और सेठजीकी तात्कालिक चिदणु आत्मा उससे तादात्म्यलाभ कर लेती है। यह नारायणी ज्योति प्राकृत ज्योति नहीं है। यह भगवान् नारायणकी स्वरूप ज्योति है। इसीका नाम आलोक है। शास्त्रोंमें इसे सालोक्य मुक्ति भी कहते हैं। अर्थात् चिदणुरूपी आत्मा ज्योतिरूपेण वैकुण्ठमें अवस्थित रहती है। यह जानना चाहिये कि प्रत्येक लोकमें स्वाभाविक ही कृपाशक्ति आवर्त्तन क्रिया करती रहती है। जैसे पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है, उसी प्रकार वैकुण्ठके सभी सत्व भगवान् नारायणकी परिक्रमा करते हैं। यह परिक्रमा सहजभावसे स्वाभाविक निरन्तर होती रहती है।

जैसे मनुष्यमें जन्मके उपरान्त स्वाभाविक बाल, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढावस्था तथा वृद्धत्व आता ही है, उसी प्रकार इस परिक्रमाका भी निर्दिष्ट क्रम है।

सालोक्यके पश्चात सारूप्य स्वतः प्रकट होता है। आप तो योगका अध्ययन कर चुके हैं। योगमें प्रख्यात है कि ***''ज्योतिरभ्यन्तरे रूपम्''*** अर्थात् ज्योतिका पूर्ण विकास होनेके साथ ही रूपका अविर्भाव होता है इसी प्रकार नारायणके उपासकको नारायण रूपकी प्राप्ति होती है।

अतः श्रीसेठजीकी चिदणु आत्मा नारायणी ज्योतिसे एकात्म लाभ कर नारायण रूप प्राप्त कर लेती है। यह सारूप्य मुक्ति है। परिक्रमाकी समाप्ति अभी नहीं हुई। आगे चलकर रूपके विकासके अनंतर शक्तिका विकास होता है। उसका नाम है सार्ष्टि। केवल नारायण रूप प्राप्त करलेनेसे सम्यक् विकास तबतक नहीं माना जाता जबतक भगवान् नारायणकी शक्ति उस चिदणु आत्मामें आयत्त नहीं हो। इसीलिये उपासक जीवको सारूप्य प्राप्त होनेके बाद नारायणी शक्तिकी प्राप्ति होकर सार्ष्टि अवस्था प्राप्त होती है। इसके पश्चात् कृपाशक्तिके प्रभावसे उपासक-उपास्यका व्यवधान हट जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें चिदणु आत्माका उपासक-भाव अपने उपास्य नारायणका सामीप्य लाभ करता है। यह सार्ष्टिसे भी उच्च अवस्था है। इस भगवान् नारायणके अखण्ड सामीप्यके समय ही "मैं नारायण ही हूँ" यह भाव अखण्ड रहता है। यहाँ उपास्य उपासक भाव भी हट जाता है और अपने उपास्यसे चिदणु आत्माका व्यवधान- रहित मिलन होता है। यह सार्ष्टिसे भी उच्चावस्था है।

कृपाशक्तिकी क्रियाशीलता अब भी बनी रहती है। और साधकका साध्यसे पूर्ण योग करा देती है। यहाँसे पूर्ण मुक्तावस्थाका प्रारंभ होता है। इसका नाम है सायुज्य। यहाँ उपासकका उपास्यके साथ सर्वात्मना युक्तभाव होता है। यहाँ पूर्ण साम्यभाव तो आ ही जाता है, परन्तु अशांशी भाव रहता है। यहाँ उपास्य तो नारायण है ही किन्तु उपासक भी उस समय भगवान् नारायणसे अभिन्न ही है। परन्तु यहाँ भी उपासक अंश एवं उपास्य अंशी बना रहता है।

अभी भी कृपाशक्ति क्रियाशील रहती है। यह कृपाशक्ति यदा-कदा इस अंश – भावी सिद्ध उपासकका विश्वकल्याणके लिये अवतरण करा देती है।

मेरी दृष्टिमें श्रीसेठजी जयदयालजीकी यही जन्मके पूर्वकी और पश्चात्की अवस्था है। वे स्वयं भगवान् नहीं हैं, परन्तु अपने साधनसे सर्वोच्च अवस्था प्राप्तकर भगवान्के अंश होकर जीवमात्रके कल्याणार्थ पुनः अवतरित हुए हैं।

ऐसे कृपा-पात्र जीव माताकी कोखमें गर्भवासके समय भी बैकुण्ठवत् आनन्दमें रहते हैं। उन्हें सर्व साधारण जीवोंकी तरह जन्म, मृत्यु, जरा एवं व्याधिका अनुभव नहीं होता है। वे तो भगवान् नारायणके दिव्य चिन्मय सामीप्यका लाभ निरन्तर पाते हैं और शरीरके घोर रोगग्रस्त होनेपर भी उसकी पीड़ाका अनुभव सर्वथा नहीं करते। यह विलक्षण जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। ऐसे जीव कुछ भी करते हुए नित्य अकर्त्ता बने रहते हैं।

आपके अतीव आग्रहको देखते हुए मैंने अपनी शास्त्र-सम्मत भावना व्यक्त कर दी है।

राधा राधा राधा राधा

(श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाको चिम्मनलाल गोस्वामीका हरिस्मरण)

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २९

ब्रह्म कर्म, निष्काम कर्म तथा ज्ञानोत्तर प्रीति

गोरखपुर
तिथि अज्ञात

श्री हरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। आपने ब्रह्मकर्म एवं निष्काम कर्मके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डालनेकी बात कही। ब्रह्म-कर्मका अर्थ ही है कि ब्रह्मज्ञानमें पूर्ण प्रतिष्ठित रहते हुए कर्म करना— यह स्थिति कैसी रहती है, दूसरे, निष्काम कर्मयोगीकी क्या स्थिति है ?

इस विषयमें श्रीकृष्ण जैसी प्रेरणा दे रहे हैं, वैसा लिख रहा हूँ। विषयोंका तो प्रयोजन ही है – विकारोत्पादन । अब पहली स्थिति यह है कि विषयोंका इन्द्रियोंसे संयोग होते हुए भी इन्द्रियाँ विकारग्रस्त नहीं हों – इस स्थितिका शास्त्रोंमें उल्लेख अवश्य देखनेमें आया था, परन्तु वर्त्तमानमें ऐसा महात्मा मेरी दृष्टिमें नहीं आया था। श्रीशुकदेवजी महाराजके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें अवश्य ऐसा वर्णन है कि नग्न युवती स्त्रियोंको सम्मुख स्नान करती देखते हुए भी उनकी निर्विकल्प ब्रह्मदृष्टिमें किंचित् हिलन-चलन नहीं होती थी। श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे साधकोंके सम्बन्धमें लिखा है **'धीरस्तत्रन मुह्यति।'** इन्द्रियोंमें यदि निरन्तर भगवत्स्मृति अथवा ब्रह्मतेज व्याप्त रहे तो यह संभव है। यद्यपि विषयोंका प्रयोजन ही है विकारोत्पादन परन्तु विकारशील विषयोंके सान्निध्यमें आकर भी इन्द्रियाँ अविकृत रहें, यह तभी संभव है जब मनका संयोग इन्द्रियोंके दृश्यसे पूर्णरूपेण हट जाय और मन विशुद्ध सत्व रूप भगवत्स्मृतिमें डूबा रहे।

एक बार मैं श्रीभाईजी (हनुमान प्रसादजी पोद्दार) के साथ रतनगढ़से कहीं बाहर जा रहा था। रास्तेमें कुछ ऐसा संयोग हुआ कि ट्रेनमें मेरे एवं श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) दोनोंके बिस्तर जिनमें ओढने-बिछानेका सारा सामान था, चढाये नहीं जा सके। भीषण सर्दीकी ऋतु थी और रतनगढ़-चूरूके आसपास सर्वाधिक सर्दी रहती है। मेरा शरीर सर्दीका कष्ट अधिक ही अनुभव करता है, अतः मैं ओढ़ने-बिछानेके सामानके अभावमें काँपने लगा। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) से यह देखा नहीं गया। उन्होंने

तुरन्त बिना कोई संकोच किये मुझे अपना पहननेका ऊनी स्वेटर और पशमीनेका शाल उढ़ा दिया। मैंने इसका विरोध करते हुए कहा – "भाईजी आप वयमें मुझसे बहुत अधिक वृद्ध हैं, आप यह क्या कर रहे हैं ?" इसके उत्तरमें भाईजीने मुझसे कहा – "बाबा ! शरीरकी त्वगिन्द्रियको सर्दीका अनुभव होते हुए भी मनको तनिक भी शीत स्पर्श नहीं करे, मुझमें इतना धैर्य एवं निग्रह है।" और वे मात्र एक धोती बनियानमें शान्त निर्विकार हँसते मुझसे बातें करते रहे। इसके बाद मैंने भी उनसे कहा कि लीजिये ! मैं भी ऐसी चेष्टा करता हूँ, परन्तु मैं जानता था कि जो मनोनिग्रहकी सहज शक्ति उनमें है, वह सहजता मुझमें नहीं है। बलपूर्वक किसी विषयमें संघर्ष करना दूसरी बात है और सहजतापूर्वक सर्वथा स्वभाववत् निवृत्त हो जाना दूसरी बात है।

इससे भी और कठिन एक स्थिति होती है जिसमें इन्द्रियोंमें विकार हो जाय और मन उससे प्रभावित नहीं हो। यह बहुत कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। ज्ञानी गृहस्थ राजा जनक इसके उदाहरण हैं, वे अपनी पत्नी सुनयनाके साथ गृहस्थोचित रमण करते हुए भी मनको ब्रह्मचिन्तनमें लगाये रहते थे।

श्रीभाईजी (हनुमान प्रसादजी पोद्दार) से इस विषयमें प्रश्न करना तो मर्यादानुकूल नहीं था, परन्तु उनकी भगवत्प्राप्तिके पश्चात् उत्पन्न हुई कन्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इन्द्रियोंमें विकार हुए बिना गृहस्थ-व्यवहार संभव नहीं और गृहस्थ-व्यवहार करते हुए मनको अविकृत रखे बिना अखण्ड भगवत्स्मृति संभव नहीं। मनमें भगवत्स्मृति-जन्य विशुद्ध सत्वबल पूरा भरा रहने पर ही यह स्थिति संभव है।

मैंने एक बार श्रीसेठजीसे राँचीमें यह बात पूछी थी। मैंने पूछा – "सेठजी ! जब आप इतनी बड़ी गीताप्रेसकी संस्था चलाते हैं, और सैकड़ों वैतनिक एवं अवैतनिक कार्यकर्त्ताओंसे व्यवहार करते हैं तो उनके कार्य-व्यवहार से मनमें उद्वेग होता है या नहीं ? और अनुकूल व्यवहारसे हर्ष एवं प्रतिकूलमें उद्वेग यदि होता है तो राग-द्वेष तो फिर बना ही रहा ।"

इसके उत्तरमें श्रीसेठजीने मुझसे कहा – "स्वामीजी ! पहले तो मेरा मन उद्विग्न होता ही नहीं। मैं तो निष्काम-भावसे स्वयं कर्म करता हूँ। कोई सहयोगी यदि अनुचित करता है तो या तो उसे परिवर्त्तित कर देता हूँ, किसी अन्यसे काम लेता हूँ, अथवा उसे समझानेकी चेष्टा करता हूँ। अपनी भगवद्-दृष्टि बनाये रखता हूँ। मेरा कार्यके प्रति भी स्वका राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि मैं भी भगवान्‌का हूँ एवं कार्य भी भगवान्‌का है। भगवान् अपने कार्यको अपनी शक्तिसे जैसे कराना चाहें, वैसे करें-करावें। नहीं कराना चाहें,

नहीं करावें। अतः यथाशक्ति तो मैं अपने मनमें कर्मचारी भाव आने ही नहीं देता, परन्तु यदि मन-इन्द्रियोंमें व्यवहारके समय किसी संस्कारवश ऐसा भाव आ भी जाय तो बुद्धिमें मेरे ***"वासुदेवः सर्वम्"*** यह निश्चय इतना सुदृढ़ है कि बुद्धिके इस अमोघ निश्चयके रहनेपर मन-इन्द्रियोंका स्खलनं कोई अर्थ नहीं रखता। इस अटल निश्चयके उपरान्त भी, यदि बुद्धि मान लो, किसी मूढावस्था, पागलपन आदिके कारण बदल भी जाय तो मेरे चित्तके विलक्षण सात्विक आनन्द भावमें कहीं कोई खरौंच नहीं लगेगी। और मान लो, भीषण पीड़ाके समय यह आनन्दवृत्ति भी नहीं रहे, तो भी निश्चय मानिये, मैं उस दुःख-पीडाका द्रष्टा हूँ– यह भाव तो निर्विकल्प रहेगा ही। मेरे द्रष्टाभावमें आनन्द और दुःख-पीड़ा – दोनोंमें सम भाव है। अतः उसे आप निर्विकल्प पावेंगे। यही ब्रह्मकर्म है। शरीर कर्म किये बिना तो रह ही नहीं सकता। परन्तु इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा, चित्तके द्वारा और द्रष्टा साक्षीरूपमें भी ब्रह्म किंवा भगवान् नारायणका संस्पर्श सुदृढ़ बना रहे। इन्द्रियाँ भगवदर्थ कर्म करें, यह इन्द्रियोंका भगवान्से संयोग है। मन भगवान्के मन-चिन्तनमें निरत रहे, यह मनका ब्रह्मकर्म है, यही भगवान्में उसका लीन होना है। बुद्धिका अटल-अखण्ड निश्चय भगवान् रहें, यह बुद्धिका ब्रह्मकर्म है। चित्त भगवदानन्दमें मस्त रहे, यह चित्तकी ब्रह्मचेतना है। और अहंकार साक्षी द्रष्टा बना पूर्ण समभाव पकड़े रहे, यह अहंकारका ब्रह्मकर्म है।"

हरिकृष्णदासजी! श्रीसेठजीने ब्रह्मकर्मकी व्याख्या करते यह अपनी स्थिति बतायी थी। परन्तु मेरी भावनानुसार श्रीसेठजी एवं श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की इससे भी ऊँची स्थिति है। ब्रह्मकर्मकी दो दिशायें हैं। एक दिशा है – भवसागरके तूफानसे अपनेको ब्रह्म अथवा भगवान्से जोड़े रखकर अस्पृश्य रखना। दूसरे, अपने भगवद्भजनके प्रभावसे इस भवसागरके तूफानको ही रोक देना। उदाहरण स्वरूप इसे और स्पष्ट समझ लें। जैसे घोर-से-घोर अतिशय कष्टदायी बीमारी हो जाय, अब उसमें भगवान्की स्मृतिको अखण्ड रखते हुए, भगवान्की सन्निधिमें उनकी कृपासे उसे सह जाना यह पहली बात है। दूसरी बात है – भगवान्की कृपासे उस बीमारीको चमत्कारकी तरह स्वरूपतः मिटा देना, यह दूसरी बात है।

दोनों स्थितियोंमें ही अविचल भगवत्कृपाका आश्रय और उनका अखण्ड बल रहेगा। यह पहली बात भक्त साधककी है और दूसरी बात योगी साधक की है।

परन्तु वस्तुतः श्रीसेठजीकी एवं श्रीभाईजीकी स्थिति मेरे मतानुसार

इससे भी ऊँची है। विशुद्ध ब्रह्मज्ञानी तूफानको तूफान समझता ही नहीं, देखता ही नहीं। वह तो तूफानको ब्रह्म तथा अपना सच्चिदानन्द स्वरूप ही देखता है। ठीक इसी तरह ज्ञानोत्तर प्रीतिका उपासक इस भीषणसे भीषण तूफानको साक्षात् अपने इष्टका स्वरूप ही मानता है। श्रीभाईजीकी अनुभूति उनकी इस कवितामें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है —

''देख दुःखका वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ।
नाथ छिपालो तुम मुख अपना चाहे अति अँधियारेमें ।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें ।।

जहाँ श्रीसेठजी सभी प्रतिकूलताओंको अपना स्वरूप ही मानते हुए पूर्ण निष्कामी बने रहेंगे, वहीं श्रीभाईजी ऐसी परिस्थितियोंमें भगवान्‌का परम सुहृद संस्पर्श देखते हुए आनन्दसे झूमेंगे, अति उन्मादी भाव-भरा नृत्य करेंगे।

मेरे मतसे यह स्थिति सर्वोपरि है। ऐसे ही साधकको श्रीमद्भगवद्गीतामें *''वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः''* कहा गया है।

राधा राधा राधा राधा

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय खण्ड)

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार एवं लेख)

अध्याय पाँचवाँ

(व्रजभावके रसमय पत्र)

पत्र-प्रेषिति

१. श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला
२. श्रीराधाकृष्णजी धानुका
३. श्रीरामलालजी चूड़ीवाला
४. श्रीउमादत्तजी माटोलिया
५. श्रीशिवभगवानजी फोगला

विषय सूची

१. ''सुमिरो नटनागरवर'' पदकी लीला-भावना
२. प्रीतम छबि नयनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय
३. सन्तका अखण्ड नित्यसंग कैसे हो ?
४. श्रीकृष्ण कल्पना नहीं, वस्तुतः सत्य हैं
५. भक्त मानदासजीका रोचक प्रसंग
६. मेंहदी सेवा
७. कब इन नैननि निरखिहौं, बदन-चन्द्रकी कान्ति
८. नींद तोहि बेचूँगी आली !
९. तुलसी-पूजन
१०. तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेमरस भेव
११. सच्चा वृन्दावनवास
१२. वृन्दावन बसि यह सुख लीजै

सार-संग्रह

हमारे मनकी खोज नश्वर शरीर-सुख है – जहाँ इस व्रजराज्यका एक तृण, वीरुध, और एक रजकणभी अपने अकृत्रिम स्नेहसे नीलमणि नन्दतनयको अपना सर्वस्वदान कर सुखी करनेके लिये पल-पल व्याकुल है। इसीलिये यहाँके रजकी लघुत्तम कणिका भी शिव-सनकादि-वन्द्यसौभाग्यकी भाजन है।

x x x x x

धन्य हैं इस गिरि-परिसरके चिन्मय प्रस्तर खण्ड, जिनकी दृष्टिके सम्मुख इस कदम्बवृक्षके नीचे प्रतिदिवस व्यवधानरहित वह अनिर्वचनीय नील-किशोर खड़ा होता है। उस समय इन समग्र चिन्मय प्रस्तर खण्डोंके अव्यक्त नेत्र भ्रमररूपमें परिणत हो जाते हैं, और इस परम अनिर्वचनीय गन्धशाली नीलाम्बुजका प्रीति-मकरन्द पान करने, इसकी ओर परम वेगसे धावित हो उठते हैं। एक-दो नहीं, असंख्य भ्रमर इस गिरिराजके प्रत्येक प्रस्तर-प्रस्तरसे व्यक्त हो, अतिशय आतुर हुए 'कृष्ण' नाम झंकार करने लगते हैं। उस समय इस नीलाम्बुज श्याम तनके रोम-रोमसे विलक्षण गन्ध-धारा प्रवाहित हो उठती है और ये भ्रमर उस गन्धमें अन्धे-से हुए मतवाले अपने प्राणरमणके पावन नामसे समग्र वनको गुञ्जारित कर देते हैं।

x x x x x

अहो ! विश्वमें जीवत्व धारण करनेवालों ! तुम सभी इस लीला-नर्त्तन-कुशल परम सुन्दर, नागर, गोपराज नन्दरायके लालको स्मरण करो न ! इसके विशाल हेतुरहित कृपावर्षी नेत्रोंके चिन्तन-मात्रसे तुम्हारे सभी दुःख सदाके लिये समाप्त हो जावेंगे।

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - तीस (३०)

"सुमिरो नटनागरवर" पदकी लीला-भावना

पत्र-प्रेषक :

प. पू स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, कलकत्ता

प्रेषण-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागा
वृन्दावनवासीका पत्र-संग्रह

दिनांक :
२९-५-३९ ई. ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा, १९९६ वि.

श्रीयुत् मोहनलालजी झुनझुनूवाला,

सादर सप्रेम यथायोग्य। अभी-अभी आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। भाई ! काल विद्युत्की भाँति हम सभीको देखते-देखते छोड़कर भाग रहा है। गिनतीके श्वास एक-एक कर कम होते जा रहे हैं, अतः युगल सरकारको हृदयमें बसाइये। जीवनका यही परम लाभ है। अब समय ही कहाँ है कि किसी अन्य प्रपञ्चमें तनिक भी मन लगावें ?

देखिये ! मेरी यह बात अकाट्य मान लीजिये कि इस संसारमें रचे-पचे किसी भी प्राणीको, कभी भी सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती। वह अशान्ति एवं अभावमें सदैव जलता ही रहेगा। जबतक प्रिया-प्रियतमके युगलचरणोंमें चित्त नहीं रमेगा, आपकी तो बात ही क्या, शिव-ब्रह्मादिकको भी शान्ति नहीं मिल सकती। अतः ऐसा मन बनाइये कि प्रिया-प्रियतमसे मिलनकी नित्य नयी-नयी उमंगोंके मनोरथोंमें ही वह आठों प्रहर उलझा रहे। कभी वह उनके चरण-कमलोंको अपनी अति सतृष्ण एवं आकुल दृष्टिसे निहारता रहे, कभी उनकी सुन्दरतामें अपनेको न्यौछावर करता रहे। कभी उनमें लगी अलक्तक और मेंहदीकी चित्रकारीको एकटक निहारे, कभी चरण-चिह्नोंके भावोंकी चित्रकारीको एकटक निरखे, कभी चरण-चिह्नोंके भावोंमें डूब जाय। कभी संयोगजन्य आनन्दमें नृत्य करे। कभी वंशीध्वनिके श्रवणमें सबकुछ विस्मृत कर

दे। कभी वनमाला गूँथनेमें निरत रहे, कभी उनको अति सुवासित बीड़ा समर्पित करे। कभी विरह-वेदनामें अपने सब दृष्कृतोंको जला दे।

परन्तु सावधानी रहे, यह सेवा, आनन्द-नृत्य सभी हों अति एकान्तमें, मात्र श्रीकृष्णके सम्मुख ही। इस मायावी संसारको हमारे एवं हमारे प्रियतमके मध्य किसी सम्बन्धकी गंध ही नहीं लगने पावे। हमारे नेत्रोंमें निरन्तर प्रियतमके पथ-जोहनेकी आकुलता बनी रहे, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झरते रहें, परन्तु संसारको यह सब अज्ञात ही रहे। भीतर-ही-भीतर हमारे चित्तमें नेह-सुधाका सागर सतत हिलोरें लेता रहे।

मोहनलालजी ! कलकत्तेका व्यापार, दुकान, उसकी सब चिन्ता सर्वथा ही मिथ्या स्वप्नवत् है। ये जैसे होनी होंगी, होती रहेंगी। इन सभीको भगवान् श्रीकृष्णको सौंप दीजिये। आप तो सतत सर्वकालमें प्राण–प्रियतमकी ही चिन्ता करिये। संसारमें जो होना है, वह सब अमोघ है। आपकी चिन्ता करनेसे अथवा अहंकारगत प्रयत्न करनेसे कुछ भी परिवर्तन संभव नहीं है। वे सर्वम्भर प्रभु हमें जहाँ, जिस रूपमें – सम्पन्न, विपन्न, यशस्वी, अपयशस्वी, सम्मानित, असम्मानित, सुखी, दुखी रखना चाहेंगे, रखेंगे। हम तो मात्र अपने मनकी गति बदल दें। इस मनने न-जाने कहाँ-कहाँ, कितनी जगह ममत्व किया हुआ है। इस ममत्वको सब स्थानोंसे हटाकर भगवान्के चरणोंमें जोड़ना है। इस मानवजन्ममें अपना मात्र, इतना ही कर्त्तव्य है।

'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।।
सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ।।

भाईजीको आपका पत्र मिल गया है। वे अत्यधिक व्यस्त हैं। उन्होंने वह आपका पत्र मुझे भेज दिया था। उसमें आपने उनसे आग्रह किया था कि वे मुझसे कोई भगवान्की लीला नित्य-चिन्तन करनेके लिये लिखवा दें, सो उनकी अनुमति मानकर एक परम पवित्र लीला लिख दे रहा हूँ। यदि इसका नित्य चिन्तन करेंगे, तो निश्चय ही आपपर प्रभुकी कृपा-वर्षा होगी।

"सायंकाल होने जा रहा है। सूर्य अस्ताचलकी ओर तीव्रगतिसे पलायन कर रहा है। गिरिराज-परिसरमें चतुर्दिक् इतस्ततः वन-चारणके लिये आयी गायें बिखरी हैं। वे दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रहके यूथोंमें सुदूर गिरि-परिसरमें तृण-चर्वणमें निरत हैं। प्रत्येक गौको यही अनुभव हो रहा है कि मानो उसका प्राणपति गोपाल, उसके पार्श्वमें ही खड़ा मन्द-मन्द मुसका रहा है। गौओंको मात्र अपने जीवन-सर्वस्वकी जीवन्त उपस्थिति ही अपने पार्श्वमें अनुभूत नहीं हो रही है, अपितु उन्हें यदा-कदा उनकी ग्रीवामें, पृष्ठ-देश (पीठ) में उसका प्राणाकर्षक, मनोहारी संस्पर्श भी अनुभूत हो रहा है।

सभी गायोंकी विलक्षण योग-स्थिति है। उन्हें नेत्रोंसे अपने प्राणधन नन्दतनूजका मन्मथ-मन्मथ रूप-सौन्दर्य, रोम-रोममें उसका परम मादक संस्पर्श, नासिकामें उसी नन्दतनयकी सुर-मुनि-दुर्लभ अंग-गन्ध, साथ ही कानोंमें उस अपने प्राणपतिकी शब्दावली भी सुनायी पड़ती है — 'अरी पिशंगि ! वनकी सुकोमल तृणराशि सुस्वादु तथा सुमिष्ट है न ? अरी, तेरा दुग्ध तो आज मुझे ही पीना है, अतः कटु-तृणोंका ग्रास मत लेना री ! अन्यथा, तो मेरे दूधका स्वाद ही बिगड़ जायगा।"

और यह अनुभूति मात्र एकाकी पिशंगिकी ही नहीं है; यह मणिकस्तनि तो देखो, कैसी विह्वल है ? इसकी रोमावली स्नेह-संस्पर्शजन्य रोमाञ्चसे कैसी ऊर्ध्व और कठोर हो रही है ? इसे बार-बार कम्प हो रहा है। आओ ! इस महाभागाके अन्तःकरणमें झाँककर देखें। अरे ! अरे !! नन्दतनय नीलाम्बुज-लोचन तो प्यारके पूर्ण आवेशमें इसकी ग्रीवामें ही झूल गया है ! महा-महासौभाग्यशालिनी इस मणिकस्तनिकी ग्रीवाका हार बना, यह उसका प्राणनिकेत अपने नेत्रोंकी दीर्घताकी संतुलना इस गौके नेत्रोंसे कर रहा है और इस संतुलनाकी भी कैसी मादक प्रीतिभरी प्रक्रिया है ! गौके आननसे इस चंचल-मतिका वदन-सरोज सटा है। इसकी सुरभित श्वास-प्रश्वास मणिकस्तनिके प्राणोंसे एकात्म हो रही है। इसके मृणाल-नाल-से बाहु-युगल इस महाभागाकी ग्रीवाको आलिंगन-पाशमें सुबद्ध किये हैं। और यह अपनी मनोहारी चितवनसे गौकी ओर निहारता हुआ, गौके नेत्रोंमें अपने नेत्र संस्पर्शित कराता, उसके स्वयंके नेत्रोंकी सुदीर्घता गौके नेत्रोंसे अधिक है — यह सुप्रमाणित करनेको परम लालायित हो रहा है।

और लो, इस कजरीकी ओर देखो ! इसके हम्बा-रवको श्रवण करनेवाला यही समझेगा, मानो यह अकारण ही चिल्ला रही है। सभी गोपालकोंका अनुमान है कि यह कजरी अपने सद्योजात वत्स-शिशुकी स्मृतिमें विह्वल, विकल है। अनेक गोप समझ रहे हैं, इसे शीघ्र गोष्ठ पहुँचनेकी त्वरा है। परन्तु, इस गौके आतुर क्रन्दनका रहस्य सत्यांशमें किसीको भी ज्ञात नहीं है।

हाँ, इस कजरीका व्यवधानरहित-रूपसे प्रतिदिवस स्तन्यपान करनेवाला, यह नीलमणि अवश्यमेव इसके विलापके कारणसे परिचित है। वह ठीक जान रहा है कि कजरी उसके अदर्शनजन्य संतापसे व्याकुल हो रही है। वह सर्वान्तर्यामी, उसकी विरह-जन्य प्रेम-पुकारको अति मनोयोगपूर्वक सुन भी रहा है, परन्तु किसीकी ऐसी विरह-व्यथा न जाने क्यों, इसको बहुत ही सुखद लगती है। यह इस तड़पको बढ़ाते चले जानेकी कलाका परम मर्मज्ञ है। अतः इस तड़पको चरम बिन्दुतक पहुँचानेकी धुनमें नयन नचाता मुसका रहा है।

कजरी पुकार लगाये जा रही है — "हे मेरे प्राणसुन्दर ! हे मेरे अप्रतिम

सौन्दर्य-माधुर्य सिन्धु !! हे मेरे जीवन सर्वस्व !!! हे मेरे प्राणोंके प्राण !!!! मेरे निरुपम प्रेम-पयोधि, मेरे प्राणरमण !!!!! सहसा अकारण ही तुम मेरे दृगोंसे दूर, ओझल क्यों हो गये ? आजतक तो कभी तुम एक पलके लिये भी मेरे दृगोंसे दूर हुए नहीं ! फिर, आज अकारण इस विरहकी दारुण ज्वालासे मेरे प्राणोंका दहन तुम क्यों कर रहे हो ? अभी कुछ पल पहले तक तो तुम मेरे दृष्टि-पथमें ही अपनी सख्य-क्रीड़ामें निरत थे, फिर अकारण ही आँखमिचौनी करनेकी तुम्हें क्या सूझी ? हाय ! मुझ अबलापर यह वज्रपात क्यों कर रहे हो, स्वामी !''

देखो ! देखो !! इस आन्तरिक भीषण विषादसे इसके दोनों नेत्र अश्रु-प्रवाह करते रुकते ही नहीं, इसका आकुल हम्बा-रव विराम पाता ही नहीं। और इस सुपुष्ट-काया कामधेनुको तो मानो प्रेमोन्माद ही हो उठा है। यह तो उन्मत्तवत् नृत्य किये जा रही है। आओ ! इसके नयनोंमें झाँककर देखें, इसके प्राणरमण तो इसके नेत्रोंके सम्मुख ललितत्रिभंगरूपमें खड़े हो गये हैं। अहा ! उनके मुखमण्डलसे कैसा लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता एवं कान्तिकी ऊर्मियाँ उच्छलित हो रही हैं ? यह दर्शन ही तो इस गौके जीवनका सर्वाधिक सरस क्षण है, अतः यह आनंदप्रमत्त हुई नृत्य करे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

आओ, मोहनलालजी ! अनन्त बार प्रणाम करते जावें — गोवर्धन-गिरिके इस परिसरको, जहाँकी भूमिका अणु-अणु, लताएँ, वृक्षोंके पत्ते-पत्ते अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दरपर सदा अपना जीवन न्यौछावर किये रहते हैं। यहाँके पुष्पोंका पराग संचित करनेवाले असंख्य भ्रमर सचमुच ही धन्य-जीवन हैं, क्योंकि उन्हं प्रत्येक पुष्पमें अपने प्राण-प्यारे श्यामसुन्दरके ही दर्शन होते रहते हैं। उन्हें प्रत्यक पुष्पकी सुवास ही अपने प्राणप्रियतम नीलाम्बुज-सुन्दरकी अंग-गंध ही अनुभव होती है। यहाँके शुक-सारिका, कपोत-कोकिल, मयूर-चकोरादि असंख्य पक्षीगण, निरन्तर त्रिभुवन-कमनीय श्यामसुन्दरके अहर्निशि गुण-गान करते रहनेमें ही अपनेको सफल, सार्थक, जीवन समझ रहे हैं।

आओ, कोटिशः प्रणाम करें, यहाँके सारस, हंस, कारण्डव, बकुल, चक्रवाकादि अनेकानेक जलचरोंको, जिन्हें उन्हें आधार देनेवाला जल, 'जल' ही समझमें नहीं आता; इनको तो सदैव यही भ्रम रहता है कि उनके प्रियतम श्यामसुन्दर ही नीर बने उनके प्राणोंके आधार हैं। इन्हें इस जलमें कोई कीट भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जिन्हें ये भक्षण कर पावें, इन्हें तो जलमें सर्वत्र उनके नील-पयोधि प्रियतम ही सर्वजीवोंके रूपमें विलसित दिखते हैं अतः ये नेत्र निमीलित किये, अपने प्राणनिकेतकी शोभा देखते रहते हैं और इस शोभा दर्शनसे अपने-आप ही उनकी क्षुधा तृप्त हो जाती है।

आओ, अनन्त प्रणाम करें – इन हरिण, नीलगायादि वनचरोंको, जो समवेत स्वरमें निज प्राणोंकी एक ही आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं – "प्राणवल्लभ नन्दतनय ! इस त्रिभुवनमें तुम्हारे अतिरिक्त हमारा और कौन है? हमें अपने शीतल शंतम चरणोंसे दूर मत फेंक देना। हम अनाश्रितोंके मात्र आप ही आश्रय हैं। एक क्षण भी हमारे हृदय-पथसे आपकी मनोहर छबि धूमिल होती है, तो बस, हमारे प्राण शरीर त्यागकर उड़ चलनेको आतुर हो उठते हैं। आप ही हमारे सभीके मात्र भूषण हो, जिससे हम भी इस वनमें अपनेको सार्थक-जीवन अनुभव कर रहे हैं।"

भाई ! इस रसभूमिका तो एक तृण भी परम वन्दनीय है, जो प्राणप्रियतम नीलमणिको अपने अकृत्रिम स्नेहदानका आधार बना चुका है। यहाँ एक अति लघु गुल्म भी शिव-सनकादि-वन्द्यसौभाग्यका भाजन है, क्योंकि एक दिवस उसके जीवनमें भी ऐसा आ चुका है, जब नीलमणि नन्दतनयने इस अकिंचन गुल्मको भी अपने अकृत्रिम स्नेह-सौभाग्यका दान किया है। धन्य, धन्य है यह वीरुध, जो निश्चय ही नन्दतनयको एक-न-एक दिवस निरख चुका है।

धन्य है इस गिरि-परिसरके चिन्मय प्रस्तर-खण्ड, जिनके दृष्टि-पथमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिका परम मनोहारी अलंकार-यह कदम्बवृक्ष सदैव सुशोभित रहता है। इसी कदम्ब-वृक्षके नीचे व्यवधानरहित प्रतिदिवस वह अनिर्वचनीय किशोर खड़ा होता है। उस समय, इन समग्र चिन्मय प्रस्तर-खण्डोंके अव्यक्त नेत्र भ्रमर रूपमें परिणत हो जाते हैं और इस परम अनिर्वचनीय गन्धशाली नीलाम्बुजका प्रीति मकरन्द पान करने इसकी ओर परम वेगसे धावित हो उठते हैं। एक-दो ही नहीं, असंख्य भ्रमर इस गिरिराजके प्रस्तर-प्रस्तरसे व्यक्त हो, अतिशय आतुर हुए 'कृष्ण' नाम झंकार करने लगते हैं। ये अलिगण अपने प्राणरमणके पावन नामसे समग्र वनस्थलको गुंजार देते हैं। उस समय इस नीलाम्बुजवत् श्यामतनके रोम-रोमसे विलक्षण गन्ध-धारा प्रवाहित हो उठती है और ये भ्रमर उस गन्धमें अन्धे-से हुए मतवाले रहते हैं।

और देखें, इस वन-खण्डकी इस कदम्ब-खण्डीमें भिन्न-भिन्न वृक्षोंमें सैकड़ों शुक और सारिकायें निर्निमेष दृष्टिसे किसका ध्यान लगाकर समासीन हैं। ये सभी कितना प्यारा उद्बोधन कर रही हैं –

"अहो ! विश्वमें जीवत्वधारण करनेवालों ! तुम सभी इस लीला-नर्त्तन-कुशल, परम सुन्दर, नागर, गोपराज नन्दरायके लालको स्मरण करो न ! इसके विशाल हेतुरहित कृपावर्षी नेत्रोंके चिन्तन-मात्रसे तुम्हारे सभी दुःख सदाके लिये समाप्त हो जावेंगे।"

सुमिरो नटनागरवर सुन्दर गोपाल लाल ।
सब दुख मिट जैहैं, वे चिन्तत लोचन विशाल ।

"अरे भाई ! इसकी कृष्ण अलकावलि इतनी सुन्दर है कि उसकी झलक भी कहीं तुम्हें प्राप्त हो गयी, तो तुम्हारी पलकें उस सुन्दरताके आस्वादनमें अपनी गति (गिरना-उठना) ही भूल जावेंगी, फिर इसके भौंहोंका विलास, इसकी मन्द मुसकान और इसकी दंत-पंक्तिके मध्यके छिद्र इतने रसमय हैं कि तुम इन्हें देखकर इसके विशुद्ध रसमें आप्यायित ही हो उठोगे।"

अलकनकी झलकन लखि पलकन गति भूल जात ।
भ्रूविलास मन्द हास रदन-छदन अति रसाल ।।

"अरे भाई ! कानोंमें जो यह रत्नजटित कुण्डल धारण किये रहता है, उसकी छबि इसके कपोलोंको मुकुटकी तरह जगमगाती रहती है। यह शोभा रविकी शोभाको लज्जित कर देनेवाली है औरयह अपने मस्तकपर मयूर-पिच्छके गुच्छोंसे जो अवतंस धारण किये है, उसकी शोभा एवं साथ-ही-साथ जो चन्द्रमाको हेय बनानेवाला विमल कुंकुमका बेंदा यह अपने भालपर लगाता है, वह सब अवर्णनीय है।"

निन्दत रवि कुण्डल-छबि, गण्ड-मुकुर-झलमलात
पिच्छ-गुच्छ कृतऽवतंस, इन्दु बिमल बिन्दु भाल ।

"इसके अंगों-अंगोंमें माधुर्यकी तरंगें तरंगायमान होती रहती हैं, इस शोभाको देखकर, बिचारा अनंग हारकर मुख छुपा लेता है, इसकी लटकीली चालको देखकर तो मत्त गयन्दका भी मद विमद हो जाता है।"

अंग-अंग जित अनंग माधुरी तरंग रंग
विमद-मद-गयन्द होत देखत लटकीली चाल ।

"अहा ! जब यह पीताम्बर पहने, सुन्दर-हीरोंका श्रेष्ठ श्रृंगार धारण करके मुसकाता है, इसके उरस्थलमें उस समय नवीन तुलसीसे विरचित एवं बीच-बीचमें सुन्दर, सुगन्धित सुमनोंसे खचित लम्बी वनमाला ऐसी लगती है, जिसे मात्र अनुभव ही किया जा सकता है।"

हसन-लसन-पीतवसन, चारु-हार-वर-सिंगार
तुलसी-रचित कुसुम-खचित पीन उर नवीन माल।।

"अरे ! यह ब्रजराजका कुल-दीपक, वृन्दावनका श्रेष्ठ महाराजा, श्रीवृषभानुजीका जामाता होनेसे परम सम्मान्य दीन-जनोंपर सहज ही कृपा-वर्षा करनेवाला है।"

ब्रज-नरेश-वंश-दीप श्रीवृन्दावन-वर महीप
श्रीवृषभानु-मानपात्र सहज दीन-जन दयाल ।

"भाई, यह वृन्दावन-भूपति सौन्दर्यकी अतुल राशि है, अनन्त-गुणोंका निधान है, श्रीगदाधरजी कहते हैं कि उन्होंने ऐसा जानकर ही उसे अपना प्रभु (स्वामी) माना है, यह युवतीजनोंका परम रसिक है एवं उनके तथा मुनियों-दोनोंके मानसका राजहंस है।"

रसिक भूप रूपरास गुणनिधान जानराय ।
गदाधर प्रभु युवती-जन मुनिमन-मानस-मराल ।।

अहा ! सारिकायें कैसी विलक्षण निसर्गातीत भावदशामें विह्वल हुई, यह गीत गायन कर रही हैं ! असंख्य पक्षी भाव-विभोर हुए उनका सुमधुर गायन श्रवण कर रहे हैं ! कैसी उद्दाम प्रीति-लहरियाँ इन सभी पक्षीगणोंके चित्ताकाश में हिलोरें ले रही हैं !

अरे भाई ! इन्हें मात्र साधारण चंचल पक्षी ही मत समझ बैठना, ये सभी तो अपना समग्र अस्तित्व ही अपने प्राणधन, जीवन-सर्वस्व श्यामसुन्दरपर न्यौछावर कर देनेवाले महात्यागी प्रेमी-भक्त हैं, जो अपने प्राणपतिकी लीलाके पक्षी-पात्र बने हैं। प्रियतम श्रीकृष्णकी चित्सत्ता ही तो इनकी चेतनता है और अपने प्रियतमका संकल्प-विकल्प ही इनका संकल्प-विकल्पात्मक मन है; या यों कहें, ये पक्षी हैं ही नहीं, अपरिसीम गंभीर आनन्दोदधिकी उच्छलित उत्ताल तरंगें मात्र हैं। ये प्रियतम-प्रेमकी उत्ताल तरंगें ही लीला-महाशक्तिद्वारा यंत्रचालित इतस्ततः फुदक रही हैं।

ये पक्षी देखो ! कैसे चहकते हैं, अपने प्राणप्यारेके यशोगानमें इनकी जिह्वा थकती ही नहीं; ये कभी काव्यपाठ करते हैं और कभी कलह भी करते हैं, तो प्रिया-प्रियतमके अनन्त नाम ही इनकी चर-चराहटमें ध्वनित होते रहते हैं। ये निमीलित-नेत्र शयन भी करते हैं, तब भी इनके हृदय और नेत्रोंमें अपने प्राणवल्लभकी छबि भरी रहती है। प्रिया-प्रियतमकी सचल प्रतिमायें बने, ये शुक, ये सारिकायें, कपोत, कोकिल एवं मयूर अपने-अपने प्रेमास्पदके सुखके उपकरण बने यंत्रचालितसे यथायोग्य कर्म कर रहे हैं।

मोहनलालजी ! पू. भाईजीके संकेतानुसार आपको व्रजरसके कुछ अनमोल भाव लिख दिये हैं। परन्तु सच्चा लाभ तो तभी संभव है, जब आप और हम अपने जीवनमें इन भावोंको भरें। हमारे जीवनकी कृतकृत्यता इसीमें है कि हम व्रजभूमिमें तृणवत्, पाहनवत् ही अपना मन बना लें। परन्तु परम अभागे हम अभी तो जड़ धन, इन्द्रिय-सुखों, और मान-सम्मानके पीछे भूत हो रहे हैं। न-जाने हमारे जीवनका यह दुर्भाग्य कब मिटेगा ?

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - इकतीस (३१)

प्रीतम-छबि नयनन बसी पर-छबि कहाँ समाय भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय

पत्र-प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू. राधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, वृन्दावन

लेखन स्थल : *प्राप्ति-सूत्र :*

भाईजी श्री हनुमानप्रसादजीकी हवेली **श्रीशिवकिसनजी डागाका**

ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य) **पत्र-संग्रह**

दिनांक :

निश्चित तिथि अप्राप्त, संभावित सं. १९९७ वि.

श्रीयुत मोहनलालजी !

सस्नेह यथायोग्य ! आपका पत्र मिल गया है। इधर शरीर रुग्ण है, फिर भी आपका प्रेम देखकर पत्र लिख रहा हूँ। आपकी भेजी हुई महावाणीकी पुस्तक एवं व्रज-निकुञ्जकी रज मिल गयी है। आपने व्रज-निकुञ्जकी रजके माहात्म्यके सम्बन्धमें प्रकाश डालनेकी बात कही। मेरी बुद्धिमें प्रेरित कर श्रीकृष्ण जो कहला रहे हैं, वह लिख दे रहा हूँ।

इस रजका माहात्म्य इसीलिये है, क्योंकि यह उन महाभागा गोपियोंकी चरण-धूलि है, जिनके नेत्रोंमें, मनमें, प्राणोंमें मात्र प्रिया-प्रियतम ही आठोंयाम बसे रहते थे। वे ऐसी प्रेम-मतवाली थीं कि उनका रोम-रोम प्रेमोल्लासमें मत्त रहता था।

कैसा विलक्षण वह भावदेश था, जो आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व इसी व्रजभूमिमें अवतरण हुआ था । इस अवतरणके समय इस व्रजका आकाश, मात्र तत्सुखी प्रेम था। उस समय इस व्रजके सूर्य, चन्द्र, मरुद्गण, पृथ्वी, आकाश, जल एवं सभी दिशायें भी प्रेम-ही-प्रेम, तत्सुखिया प्रीति-ही-प्रीतिसे पूर्ण

लबालब भरे थे।

इस प्रदेशकी उद्भिज, अण्डज, जरायुज, स्वेदज-सभी सृष्टि अपने प्राण-सार-सर्वस्व नीलसुन्दरपर अपना सर्वस्व न्यौछावर किये थी। वह सब सृष्टि एक ही भावसे भावित थी -

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्नावोढुं गदाभृतः ॥

(श्रीमद्भा. १०।८३।४१-४२)

"हमें पृथ्वीके साम्राज्य, स्वर्गके राज्य अथवा इन दोनों पदोंके भोग, अणिमा, महिमादि सिद्धियोंका ऐश्वर्य, ब्रह्माका पद, मोक्ष, अथवा वैकुण्ठधाम किसीकी भी इच्छा नहीं है। हमारी सभीकी चाह यही है कि भगवती श्रीराधा (कमला) के कुच-कुंकुमकी सुगन्धसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-धूलि हमारे मस्तकको सदैव भूषित करती रहे।"

वह सृष्टि ही ऐसी प्यार भरी थी कि वहाँकी लताएँ पत्र-पुष्प सभी आकुल-कण्ठसे सदैव एक ही विनय करते रहते थे :—

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारुदर्शय ॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥

"हे सखे ! हम आपकी किंकरी हैं, कृपा करके हमें स्वीकार कीजिये, अपना सुन्दर मुख-कमल हमें दिखाइये। हे रमण ! हे आर्त्तिनाशन् ! तुम्हारे चरणारविन्द प्रणत-जनोंकी कामना पूरी करनेवाले हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सदा सेवित हैं, पृथ्वीके आभूषण हैं, विरह-विपत्तिकालमें ध्यान करनेसे कल्याण (मिलनानन्द) प्रदान करनेवाले हैं। हे प्रियतम ! उन परम कल्याण-निकेतन, सुशीतल चरणोंको हमारे तप्त हृदयपर स्थापित कीजिये।"

मोहनलालजी ! आजके वृन्दावनसे उस वृन्दावनकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वह विशुद्ध-सत्वका सार, चिन्मय वृन्दाकानन था, जो आजके व्रज-प्रदेशमें आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व अवतरित हुआ था। इसीलिये आजतक इस प्रदेशकी व्रज-रजका माहात्म्य है। इस व्रज-रजमें, उस चिन्मय वृन्दावनमें उस समय निवास करनेवाली प्रियतम-प्रेम-निमग्ना राधारानी और गोपियोंकी चरण-धूलिका संस्पर्श अवश्य-अवश्य हुआ है। अविनाशी प्रेमके वे परमाणु

अबतक इस व्रज-रजमें संचित हैं, यही इस व्रज-रजका माहात्म्य है। यह व्रज-रज चिन्मय प्रीतिकी बीजस्वरूपा है, इसीलिये यह सर्वमहापुरुष-वन्दित है।

प्रेमका तो स्वभाव ही है, वह एकाकी वन-स्थलोंमें, वन-वृक्षोंके तले, लताओं, कुंज-निकुंजोंकी छायामें ही पुष्पित-पल्लवित होता है, अतः प्रेमीजनोंको कैलास तथा वैकुण्ठका वैभव परम तुच्छ लगता है। तो, इन लता-पताओंसे घिरे वन कुंजोंमें ही प्रियतम श्यामसुन्दर राधारानीसे मिलने नित्य ही आते हैं। वे गायें चराते हुए सखाओंके संग क्रीड़ाएँ करते हैं और तब छायारूपमें तो सखाओंमें ही रहते हैं और स्वयं राधारानीके पास चले आते हैं।

लो ! आज भी इस परम विशुद्ध, चिन्मय, सत्त्व-स्वरूप वृन्दाकाननके एक वनखण्डमें जहाँ चतुर्दिक् कदम्ब ही कदम्ब-वृक्ष हैं, एक वृक्षके तले श्रीमती राधारानी अपनी सखियोंसे घिरी विराजित हैं। वे प्रतीक्षा कर रही हैं अपने श्यामसुन्दरकी।

मोहनलालजी ! श्रीकृष्ण कहाँ नहीं हैं, वे तो सर्वत्र हैं। आपके हृदयमें, आपके शरीरके रूपमें, शरीरके अणु-अणुमें वे ही वे भरे हैं। आपके रक्तके, मांसके अस्थिके कण-कणमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण भरे हैं। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीताउपनिषद्में कहते हैं :-

"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।"

अर्थात् "हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं, कुछ भी नहीं, इस विश्वका सबकुछ मैं ही बना हुआ हूँ।" अतः सबकुछ श्रीकृष्ण होते हुए भी वे सर्वभवन-समर्थ प्रभु हमें शरीररूपमें दिख रहे हैं। वे ही संसार बने हैं, स्त्री-पुत्र परिवारकी चिन्ता बने हैं, कलकत्तेके व्यापारकी चिन्ता बने, वे भूतकी तरह हम सबको नरकोंमें ले जानेकी चेष्टा कर रहे हैं। ऐसा वे क्यों कर रहे हैं ? इसीलिये, कि हमें चिन्ता, दुःख, अभाव, शोक एवं मृत्युभरा यह संसार ही प्रिय है। हमें आनन्दकन्द, प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण प्यारे ही नहीं अनुभव हो रहे।

"हरिव्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम तैं प्रकट होहिं मैं जाना"

राधारानी एवं गोपियोंमें और हमारेमें यही अन्तर है। हमारा मन धुंधकारी प्रेत बना विषयानुसंधानमें भटक रहा है, परन्तु गोपियोंका मन निरन्तर सर्वत्र सभीमें श्रीकृष्णको खोज रहा है। हमारे मनकी चाह विषय है, धन है, गोपियोंके मनकी चाह श्रीकृष्ण हैं, अतः वे सभी गोपियाँ अपने नवकिशोर प्रियतमको खोजने एवं न्यौछावर हो जाने वन-कुञ्जोंमें आयी हैं।

तो राधारानीके प्राण उनके शरीरमें हैं ही नहीं। यद्यपि प्राण-तन्तु शरीरसे जुड़े अवश्य हैं, परन्तु वे मनके साथ भटक रहे हैं उस वृन्दाविपिनकी

राहोंमें अपने प्रियतमको खोजने। ललिताकी जंघाओंमें रानीका मस्तक है। विशाखा व्यजन-सेवा कर रही है, चित्रा पैरोंको सहला रही है। सभी सखियाँ अच्छी प्रकार जान रही हैं कि रानीको चेतना तभी आवेगी जब उसके प्राणवल्लभ यहाँ आवेंगे। वे रानीका मस्तक अपनी गोदमें लेकर, जब उसकी निर्बन्ध- वेणी, केशराशिको सहला-सहलाकर उसे सम्बोधित कर उद्‌बुद्ध करेंगे, तभी रानी जाग्रत होंगी।

यह तो प्रतिदिनका नियम ही है कि दक्षिण दिशामें जो सनातन पुष्पित कदम्ब है, उसके नीचे ही उनके प्राणवल्लभ उन्हें दृष्टिगोचर होंगे। आज भी वे अबतक तो आ ही जाने चाहिये थे, सखियोंको क्षण-क्षणका विलम्ब असह्य हो रहा है। यद्यपि सभीका यह विश्वास अटूट है कि वे आवेंगे ही, ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे नहीं आवें। रानीको तो अपने प्राणवल्लभके प्रेमकी स्मृति ही संजीवित किये है। अपने प्रियतमको देखने-मिलनेकी आशामें ही उनका शरीर जीवन्त है, अन्यथा तो रानीके प्राण क्षणभरमें ही उसके शरीरको छोड़कर अपने प्रियतमके चरणोंमें मिल जाते।

तो, राधारानीके भटकते प्राणोंने अन्ततः अपने प्रियतमको अन्वेषण कर ही लिया है। आकुल प्राणोंकी सच्ची इच्छा जब उन्हें ढूँढनेकी होती है, तो वह प्राणधन मिल ही जाता है। सहसा रानी नेत्र खोल देती हैं। रानीको होशमें आयी देख, सभी सखियाँ उल्लसित हो उठती हैं। परन्तु यह क्या ? उन्हें तो वन, वनचर, वृक्ष, लताएँ, ललिता, विशाखादि सभी सखियाँ, यहाँतक कि उनका अपना तन भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। उन्हें तो सर्वत्र त्रिभुवन-कमनीय, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्ष, निखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृत-सारभूत, मन्मथ-मन्मथ, आनन्दकन्द मदनमोहन प्रियतम ही सर्वत्र दिख रहे हैं।

वे भावावेशमें ललिताको कहती हैं – देख री ललिता ! वे सामने कदम्बके नीचे मन्द-सुमन्द मुसकाते खड़े हैं। अरी ! तू मेरी ओर क्या देख रही है ? अरी मूढ़े ! तू तो सर्वदा मान ही किये रहती है। विधाताने तुझे न-जाने कैसा कठोर हृदय दिया है ! देख री, उनके मुखारविन्दसे राशि-राशि प्रीतिधारा प्रवाहित हो रही है। अहा ! कैशोर-भाव उनके अंग-प्रत्यंगमें कैसी अप्रतिम मधुरिमा छलका रहा है। अरी ! उनके कपोलों एवं ललाटके कुछ अंशको सुसज्जित करती घुँघराली अलकें कैसी प्यारी लग रही हैं ! अरी, चल न ! उनकी अलकोंपर जो गोखुरोंसे उड़ी धूलि संलग्न है, उसे अपनी पलकोंसे झाड़ दें। री विशाखा ! देख न ! वे मयूर-पिच्छका मुकुट मस्तकपर धारण किये नटवर वेषमें कितने प्यारे लग रहे हैं री ! अरी ! तू मेरे मुखकी ओर क्या देख

रही है ? अरी चित्रा ! तुम सभी क्या ललिताकी शिक्षासे प्रमाद कर रही हो ? कोई उनको वनमाला भी अर्पण नहीं कर रही। उनके लिये आसन भी नहीं बिछा रही। देखो ! वे मन्द-मन्द मुसकाते मुझपर प्रेमकटाक्षोंकी वर्षा कर रहे हैं।"

सखियोंके नेत्र रानीकी अवस्था देखकर छलछला आये हैं। रानीके चारों ओरका विश्व ही प्रेमानन्द-रस-माधुरीका पात्र हो गया है। उनके चतुर्दिक् सदैव, सर्वत्र ही सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सुशीतल अपने प्रियतमके वदन-विधुकी शुभ्र-ज्योत्स्ना ही छिटकी है।

मोहनलालजी ! ऐसी राधारानीके चरण आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व जिस धरापर पड़े थे, उसकी रज आपने मुझे भेजकर कृतकृत्य ही कर दिया है। मैं मात्र शिष्टाचारवश ही ऐसा नहीं लिख रहा हूँ। सर्वथा सर्वांशमें अपने मनका भाव ही आपको निवेदित कर रहा हूँ।

सार-की-सार बात तो यही है कि इन गोपियोंकी तरह हम भी अपने प्राणोंमें श्यामसुन्दरको बसावें। यदि हमारे हृदयमें श्यामसुन्दर बस गये, तो फिर जगत्के लिये स्थान ही कहाँ बचेगा ?

प्रीतम छबि नयनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ।

मोहनलालजी ! जगत्की वासनाओंको चित्तसे हटानेका एक ही उपाय है कि श्यामसुन्दरको सर्वेन्द्रियोंसे अपने अन्तःकरणमें पूरम्पूर भर लिया जाय। जबतक बोतलमें, या किसी भी भाण्डमें जल नहीं भरता, तभीतक वायु भरी रहती है। बोतलको वायु-शून्य करनेका उपाय यही है कि उसमें जल भर दिया जाय। जलके भीतर जाते ही वायु स्वतः निकल जायेगी। इसी प्रकार, इस मनमें प्रियतम श्यामसुन्दरको भरे बिना संसार नहीं हट पावेगा। ज्योंही श्यामसुन्दर इस मनमें आये, संसार रहेगा नहीं।

सबको यथायोग्य । प्रेम बनाये रखियेगा।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - बत्तीस (३२)

सन्तका अखण्ड नित्य संग कैसे हो

पत्र-प्रेषक :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला

लेखन स्थल : भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली ग्राम पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

दिनांक : ता. १८-३-४१ ई.

प्राप्ति-सूत्र : श्रीवृन्दावनसे प्राप्त श्रीशिवकिसनजी डागाके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपिसे

प्रिय मोहनलालजी ! सप्रेम यथायोग्य ।

आपका कृपा-पत्र मिला। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) से इस जन्ममें आपका भाव-सम्बन्ध बहुत ही मधुर हुआ है। आपने लिखा कि इस सम्बन्धको मृत्यु नहीं तोड़ पावे, इसका उपाय बताइये। सो, इसका उपाय तो यही है कि आप एकमात्र भगवान् श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्यौछावर हो जाइये।

एक लौकिक उदाहरण है – एक माँसे उत्पन्न दो कन्याएँ हैं। वे यदि सर्वदा साथ रहना चाहें, तो उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि उन दोनोंका विवाह एक ही पुरुषसे हो जाय। तत्पश्चात् दोनों ही पातिव्रत-धर्मका पूर्णतया पालन करें। हिन्दू-शास्त्रानुसार पतिव्रता स्त्रीको जन्म-जन्मान्तरमें भी एक ही पति मिलता है। अवश्य ही जगत्में स्त्रियों द्वारा पातिव्रत-धर्मका पालन बहुत ही न्यूनतया होता है, इसीलिये उनके अनेक जन्मोंमें अनेक पति होते हैं। परन्तु पातिव्रत-धर्मका यथार्थतः सत्यांशमें पालन होनेपर शाश्वत रूपमें स्त्रीको वही एक पति ही सर्वयोनियोंमें मिलता है।

इसी प्रकार, यदि आप सचमुच ही श्रीकृष्णके सखा, दास-दासी, गोपी कुछ भी हो गये और उनकी अथवा राधारानीकी सेवा ही आपका उद्देश्य हो गया, तो फिर भगवान् श्रीकृष्णके साथ-साथ अथवा राधारानीके साथ आपका

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - पैंतीस (३५)

मेंहदी - सेवा

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प.पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीराधाकृष्णजी धानुका, श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला,
श्रीवृन्दावनधाम (मथुरा)

लेखन स्थल : गीतावाटिका, गोरखपुर

प्राप्ति-सूत्र : श्रीशिवकिशनजीडागाका पत्र-संग्रह

दिनांक : श्रावण कृष्ण १३, सं. २००५ (सन् १९४८)

विषय : गोरखपुरसे श्रीलाडिलीजीको वृषभानुपुर मेंहदी भिजवाना।

सन्दर्भ

श्रीवागीशजी शास्त्री वृन्दावनके एक रसिक भक्त थे। अजमेरके एक मुसलमान भक्त सनम साहबसे इन्होंने श्रीराधाबाबा एवं भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी महिमा सुनी थी कि ये अति उच्च-कोटिके रसिक सन्त हैं। इसके पश्चात् वृन्दावनधाममें राजवैद्य श्रीलक्ष्मीनारायणजीसे भी, जो हित-हरिवंश सम्प्रदायके माने हुए वैष्णव थे, पू. राधाबाबाकी प्रशस्ति सुनकर ये श्री भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एवं पू. राधाबाबाके दर्शनार्थ गोरखपुर आये थे। पू. श्रीराधाबाबाके आग्रहसे ये उनको 'राधासुधानिधि' ग्रन्थकी कथा अति एकान्तमें सुनाया करते थे। इस कथामें मात्र तीन व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। पू. राधाबाबा स्वयं, गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री । अत्यन्त रसमय कथा चल रही थी, कि पू. राधाबाबाको एक मेंहदी लीलाकी अति रसमयी अनुभूति हुई। इसी कथाके मध्य श्रीवागीशजीने यह भी उल्लेख किया कि श्रावणी तीजपर लाड़िलीजीको भक्तलोग बरसानेमें मेंहदी चढाया करते हैं। अतः पू. राधाबाबाने श्रीभाईजीके घरमें मेंहदी पिसवाई और उसे श्री भगवानदासजी सिंहानियाके हाथों बरसाने श्रीलाडिलीजीकी सेवामें प्रस्तुत

भाई मोहनलालजी ! मेरे कहनेका इतना ही मन्तव्य है कि पहले हमारे जीवनका यह उद्देश्य तो हो कि इस जीवनकालमें, जो भाईजी जैसे महापुरुषका संग हमें अमोघ भगवत्कृपावश प्राप्त हो गया है, वह अब कभी नहीं छूटे । मृत्युके पश्चात्की बात तो बहुत दूर की है। हम तो शरीरकी तुच्छ आसक्तियोंमें उलझ भाईजीको त्यागते फिरते हैं। हमारी ऐसी इच्छा ही कहाँ है कि हम उनका नित्य संग अथवा उनकी सेवा कर सकें।

मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि यद्यपि आपके भाव परम निर्मल हैं, परन्तु इन भावोंकी पहले ठोस नींव तो बनाइये। यह नींव तभी बनेगी, जब आपका मन पूर्णरूपसे इस विनाशी संसारकी मायासे विरक्त होकर पहले श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मान लेगा। दूसरे, श्रीकृष्णकी कृपापर पूर्णतया निर्भर हुआ वह चातककी तरह उन्हें ही पुकारता रहेगा एवं अन्य आश्रयोंका सर्वथा त्याग कर देगा।

यदि आपके, मेरे, अथवा किसीके भी द्वारा ऐसा हुआ, तो जीवनकी धारा किसी भी दिवस एकाएक क्षणमात्रमें ही पलट जायेगी। तभी आगेका मार्ग खुलेगा और पथ-निर्देश होगा।

आपके पत्रका, मनमें जैसी श्रीकृष्णने प्रेरणा दी, उत्तर लिख दिया है। कृपा एवं प्रेम सदैव बनाये रखें।

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - तैंतीस (३३)

श्रीकृष्ण कल्पना नहीं, वस्तुतः सत्य हैं।

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला

लेखन स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम एवं पोस्ट रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाका
पत्र-संग्रह

दिनांक :
श्रावण शुक्ला दशमी, सं. १९९८ वि.

प्रिय मोहनलालजी !

सादर सप्रेम यथायोग्य । आपका पत्र मिला।

'भक्तनारी' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें रबियाकी बड़ी प्यारी कथा है। रबिया भगवान्‌से प्रार्थना करती है – "मेरे प्राणनाथ ! मैं यदि स्वर्गकी कामनासे तुम्हें भजती होऊँ, तो मेरे लिये स्वर्गका द्वार ही बन्द कर देना। यदि नरककी ज्वालाके भयसे तुम्हें भजती होऊँ, तो मुझे नरककी ज्वालामें जला देना, मैं पाप-कर्मको हटानेके लिये यदि तुम्हें भजती होऊँ, तो मुझे घोर पापी ही बनाये रखना, यदि किसी भी अनुकूलताकी मुझे चाह हो, तो वह मेरी चाही परिस्थिति मुझे कभी मत देना, परन्तु यदि कोई भी अपनी कामना नहीं रखकर मैं मात्र तुम्हारे सुखके लिये तुम्हें प्रेम करती हूँ, तो मुझे तुरन्त मिल जाओ, अब और विलम्ब करके मुझे मत तरसाओ ।"

मोहनलालजी ! भक्तोंके कैसे सुन्दर निर्मल भाव हैं ? भक्तोंको संसारका भान ही नहीं रहता। वे तो अपने भगवान्‌को भीतर-बाहर, सर्वत्र देखते रहते हैं। वे भगवान्‌को ही भजते हैं, वे अपने प्रभुसे ही बोलते हैं, उनसे ही हँसते हैं, रोते हैं, माँगते हैं और वे जो कुछ भी देते हैं, प्रभुको ही देते हैं, वे लेते भी मात्र प्रभुसे ही हैं। वे प्रभुमें ही उठते-बैठते, चलते हैं, वे निरन्तर प्रभुका ही विचार करते हैं, उनका सम्पूर्ण अध्यास परमात्मा ही परमात्मा है। इसीलिये वे परमात्माके भक्त हैं।

मोहनलालजी, भक्त कैसे होते हैं ? उनकी महिमाका प्रकाश वाणी एवं लेखनी कर ही नहीं सकती। देखिये ! भाईजीके एक मित्र धनपति बहुत रुग्ण थे। उनके पेटकी बहुत ही सांघातिक शल्यक्रिया (Operation) होने वाली थी। भाईजी मुझे भी अपने साथ अस्पतालमें ले गये थे। सहसा लोगोंमें घबड़ाहट व्याप्त हो गयी। डाक्टरोंसे मरीजका रक्तचाप संभल नहीं रहा था। अतः उन्होंने मरीजकी मृत्युका पूर्वाभास सभीको दे दिया था।

भाईजी मरीजकी हाथकी नाड़ी थामे ध्यानस्थवत् हो रहे थे और अपनी अनुभूतिका विलक्षण प्रकाश उस मरणासन्न प्राणीके सम्मुख कर रहे थे -

"सेठजी ! संसारको भूल जाइये। यह सब, जो आपको आँखोंसे दिख रहा था, कानोंसे सुननेमें आ रहा था, वह सब स्वप्न था, जो अब टूटनेही वाला है। कुछ क्षणोंमें ही आपका इस सब दृश्यसे कहीं, कोई सम्बन्ध नहीं रहनेवाला। देखिये ! मेरे कथनानुसार ध्यान करिये –

"एक परम सुन्दर कदम्बका वृक्ष है। उसमें बहुत ही अलौकिक पुष्प खिल रहे हैं, विलक्षण सुगन्ध सर्वत्र महक रही है। देखिये ! पास ही परम सुशीतल यमुना बह रही है। यमुनामें असंख्य कमल हैं। कमलोंपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। कदम्बके नीचे श्रीकृष्ण गोपियोंसे घिरे बैठे हैं। इन श्रीकृष्णके चरणोंके नखोंसे, जो विलक्षण ज्योत्स्ना, आभा निकल रही है, उसमें ही आपको डूबना है। उसमें विलीन हो जाना है। देखिये ! अब कोई रुग्णता नहीं है। आप शरीर हैं ही नहीं, शरीर थे ही नहीं। इस निर्मलतम अमृत-देशमें कभी रुग्णता होती ही नहीं। सर्वत्र अमृत ही अमृत है। परमात्मा श्रीकृष्णका आपपर अथाह प्रेम ही प्रेम है, शान्ति ही शान्ति है, मंगल ही मंगल है, आनन्द ही आनन्द है।"

"यमुनाजल कितना निर्मल है, उसमें कीचड़ सर्वथा नहीं, फिर भी कमल असंख्य भरे हैं, भ्रमर 'कृष्ण' गायन कर रहे हैं। यहाँ सारस हैं, हंस हैं, शुक हैं, कीर हैं, परन्तु सभी परमात्माके ध्यानमें निरत हैं, ध्यान करिये ! आपकी ओर भगवान् देख रहे हैं, आप उनसे अपने नेत्र मिलाइये। बस, भगवान्के रूपमें डूब जाइये। उनसे एक हो जाइये। उनसे ऐसे मिलिये, मानों समुद्रमें बूँद मिल गयी हो।"

भाईजी तबतक यह ध्यान कराते रहे, जबतक सेठजीकी साँसें चलती रहीं। थोड़ी देरमें सेठजीके बच्चे पुनः डाक्टरोंकी ओर दौड़े। डाक्टर आये भी, परन्तु सेठजी तो परमधामको चले गये थे।

फिर हम लोग जब दिल्लीसे लौटकर आ रहे थे, तो भाईजी मुझे गाड़ीमें बहुत ही तत्त्व-रहस्यकी बातें समझा रहे थे। वे कह रहे थे – "स्वामीजी! भोगीके सामने घर है, मकान है, परिजन हैं, मोह है, अभाव हैं, चिताएँ हैं, रोग

हैं, भय है, दारिद्र्य है, जड़ता-ही-जड़ताका राज्य है, दुःख हैं, पीड़ाएँ हैं, बुढ़ापा है, वहाँ शरीरका बल है अथवा निर्बलताएँ हैं, बुद्धि की योग्यता-अयोग्यताएँ हैं, परन्तु उसके लिये भगवान् हैं ही नहीं। योगीके पास नित्य शुद्ध, विशुद्ध, परम निरपेक्ष प्रेम-स्वरूप परमात्मा है, उसका अलौकिक विलक्षण लीला जगत् है, परमानन्द ही परमानन्द है, परन्तु उसके पास दुःख-अभाव, ग्लानि, पीड़ा, चिन्ता, मृत्यु, अभाव हैं ही नहीं। उसके पास अखण्ड शान्ति ही शान्ति, आनन्द ही आनन्द है। जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक भोगोंके लिये प्राणी दिनरात हाय-हाय कर रहे हैं, योगी इनकी ओरसे पूरा विमुख, अनजान, अज्ञानी है। वह बस, परमात्माके नाम, गुण, यश, उनका रूप, ध्यान, उनकी अनन्त उदारता आदिके चिन्तनमें सतत सजग है। जहाँ भोगी भगवान्के लिये अन्धा है, वहाँ योगी संसारके लिये अंधा है। भोगी कहता है – "भगवान सन्देहास्पद, शास्त्रोंकी गप्प, साधुओंकी जीविकाके साधनमात्र हैं, वहाँ योगीके लिये भगवान् प्रत्यक्ष हैं, उसके पल-पलके संगी हैं, वे उससे बोलते हैं, बात करते हैं, हँसते हैं, खेलते हैं, उसका सम्पूर्ण योगक्षेम निर्वाह करते हैं। योगी संसारको भ्रम जानता है, भ्रम मानता है, वह देखता हुआ भी उसे मिथ्या समझता है और भगवान्को नहीं देखता हुआ भी अखण्ड देखता है। बाबा ! श्रीकृष्ण हैं – यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है, यह सत्य का सत्य है। बाबा ! श्रीकृष्ण मेरी प्रत्येक श्वासको गिनते हैं, वे मेरे सर्व-साक्षी हैं, वे मेरे मनकी छोटी-सी हलचलको भी बहुत प्रेम और सावधानीपूर्वक देख रहे हैं। वे मेरे सम्पूर्ण व्यवहारके पारदर्शक हैं। वे ही मेरे रूप हैं, आकार हैं, मेरा धन-वैभव, मेरे बल, ज्ञान, मेरे देश, काल, स्वभाव हैं। वे ही मेरे आकाश हैं, भूमि हैं, वे ही मेरे वस्त्र हैं, मैं उन्हें ही पहनता हूँ, ओढ़ता हूँ। मैं उनसे ही प्राणान्वित हूँ। वे ही मेरा यश, अपयश, गुण, स्वास्थ्य एवं आधार हैं। वे एक पल भी मुझे नहीं छोड़ते, वे मेरे आधीन हैं, मैं उनका आश्रय हूँ। मैं श्रीकृष्णमें ही जीवित हूँ, मैं सर्वाधिक उन्हींका आदर करता हूँ। मैं उन्हें ही देता-लेता हूँ। मेरा जीवन मात्र उनका वरदान है। मुझे तो श्रीकृष्ण ही इस विश्वके मात्र आधार दिखते हैं। उनका स्वरूप विलक्षण है, सब उनका ही लीला-विलास है।"

मोहनलालजी ! आप भाईजीके प्रेमी हैं। परन्तु आप उनकी आस्थाको अपनी आस्था नहीं बनाते। जुड़े हैं संसारसे और बात करते हैं, मात्र भाईजीके प्रेमकी। आजसे ही उनकी आस्था-विश्वास-निष्ठाका एक कण-मात्र ग्रहण कर लीजिये और मस्त हो जाइये।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - चौंतीस (३४)

भक्त मानदासजीका रोचक प्रसंग

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प.पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला

प्रेषण स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली
ग्राम पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाके
पत्र संग्रहसे

दिनांक :
ता. १८।२।४० माघ शुक्ला ११, सं. १९९६

प्रिय श्रीमोहनलालजी !

सादर यथायोग्य । आप मुझे बहुत प्यार करते हैं, यह प्यार बस बढ़ता ही रहे; यही आपसे भिक्षा माँग रहा हूँ। आप मेरे बताये हुए साधन अर्थात तीन-तीन मिनटपर भगवत्स्मरणकी चेष्टा करते हैं, परन्तु भूल हो जाती है। ऐसा आपने लिखा सो भूल होती है, तो होने दें परन्तु चेष्टा करते ही चले जायें। जबतक श्रीकृष्ण प्यारे नहीं लगते, तबतक भूल होगी ही। यह नियम है, सबसे प्यारी वस्तु कभी भूलती नहीं। अभी श्रीकृष्णसे अधिक प्यारा शरीर एवं संसार लगता है, अतः श्रीकृष्ण भूल जाते हैं, शरीर तो नहीं ही भूला जाता। श्रीकृष्णको याद करते-करते अपने आप सब ओरका आकर्षण फीका पड़ता जायेगा, फिर वे ही सबसे प्रिय लगने लगेंगे और भूल नहीं होगी।

एक भक्तका आपने नाम सुना होगा, वे व्रजके श्रेष्ठ रसिक भक्त थे, उनका नाम मानदासजी था। वे वल्लभ-सम्प्रदायके अनुयायी थे। वे बहुत तितिक्षासे वृन्दावनवास करते थे एवं निरन्तर नाम जप करते रहते थे। वे प्रति तीन-तीन पलमें भगवान्‌को देखनेका नियम लिये थे। जबतक उनका ध्यान सुदृढ़ नहीं हुआ, तबतक तो वे चित्र-छबिका ही दर्शन कर लेते थे। वे अधिकांशतः वृन्दावन अथवा गिरिराज-परिसरमें राधाकुण्डपर रहते थे, ऐसा सुना है।

उनका भाव एक सखीका था। वह सखी अपने ससुरालमें रहती थी,

परन्तु उसके पतिसे उसका मिलन नहीं हुआ था। पति परदेस गया था। किसी आभीर-वधूसे उसने नन्दनन्दनकी चर्चा अवश्य सुनी थी। परन्तु उसका गृह नन्दभवनसे दूर, किसी अन्य ग्राममें होनेसे अबतक उसे उनकी झाँकी नहीं मिल पायी थी। न-जाने, इस नन्दनन्दनकी थोड़ी-सी चर्चाने ही उसपर ऐसा कौन-सा जादू कर दिया कि निगोड़ी उसकी सम्पूर्ण ममता उन्हींके चरण-सरोरुहोंमें लिपटना चाहती थी ? प्राणोंने निश्चय कर लिया था कि यदि उसका पति परदेससे आया भी, तो उसके उसे दर्शन मात्र हों, इसके पूर्व ही वह देह त्याग देगी। प्राणोंने एकान्त-मनसे इस नील घन-सुन्दरको ही अपना सर्वस्व समर्पण करनेका पूर्ण निश्चय कर लिया था; यद्यपि यह लोक-वेद-विरुद्ध था परन्तु वह क्या करे ? उसका मन ऐसा ही इस नवकिशोर पर आसक्त जो हो गया था। प्राण पल-पल इसी गोपालकी एक झलक-भर पानेको चरम एवं परम व्याकुल हुए हाहाकार करते रहते थे। उसके एकक्षणके दर्शनके लिये वह तरसती रहती थी। मिलन-सुखकी तो उसे आशा ही नहीं थी। बस, उसकी एक झलक देखने-भरको ही मिल जाय, फिर तो उसी क्षण वह अपने प्राण उस नीलमणिके चरण-नख-मणियोंमें ही विलीन कर देगी, उसका अन्तर्हृदय ऐसे ही अनुरागभरे संकल्प-विकल्पोंमें बहता रहता था।

उसके ससुरालमें उसपर इतने प्रतिबन्ध हैं कि वह तो नन्दग्रामकी ओर जा ही नहीं सकती थी, घरसे बाहर जाना ही उसका यदा-कदा ही होता था, वह भी मात्र पनघट अथवा यमुनासे जल लाने-मात्रके लिये। दिनभर तो गृह-काजसे सिर ऊँचा करनेकी उसे फुरसत ही नहीं मिलती थी फिर भी उसका मन कैसा निर्लज्ज था कि वह प्रतिपल अनुभव करता था कि "आज उसके घरके पीछेके वनमें उसे वंशी-निनाद सुनाई पड़ ही जायगा। आज असंख्य गायोंके साथ वह अनिर्वचनीय गोपाल उसके गृहके पार्श्वसे गुजर ही जायेगा। उसके मस्तकपर काली कामरी होगी। उस कामरी और मोरमुकुटपर गोरजका अभिषेक हो रहा होगा। वह गायोंके पीछे-पीछे नंगे पैर दौड़ता, कितना मनोहर लगेगा ? उसके हाथमें बड़ी-सी लकुटी होगी। वह गौओंके आनेका कोलाहल सुनते ही दौड़कर छतपर चली जायगी। वह उसका श्यामल मुखचन्द्र बस जीभर देखकर, उसे अपने मनमें ही सदा-सदाके लिये बसा लेगी।"

इस प्रकार विचारोंमें तन्मय हुई, वह गोपी अर्द्ध-विक्षिप्त-सी रहती थी। घरके लोग उसे पति-वियुक्ता होनेके कारण मतवाली हुई मानते थे परन्तु उसके चित्तमें तो उसी नन्दनन्दनके रूपकी, बोलीकी, चलनकी स्मृति भरी रहती थी।

इस भावमें गोपी बने मानदासजी प्रभातसे लेकर रात्रिके द्वितीय प्रहर तक भगवान्‌की परमाकुल प्रतीक्षा करते हुए "राधाकृष्ण, राधाकृष्ण" जप करते अपना काल-यापन कर रहे थे।

मोहनलालजी ! जो भी भक्त-हृदय इस प्रकार कालक्षेप करने लगता है, परम दयालु प्रभु उसपर कृपाकरते ही हैं। एक दिवस वह सौभाग्यशाली क्षण उपस्थित हो ही गया जब सायंकाल प्रभुने मानदासजी, और उनकी हृदयस्थ भावमयी गोपीपर कृपा कर ही दी। बस, फिर क्या था, उधर तो वह गोपी और इधर मानदासजी दोनों ही विक्षिप्त हो गये। गोपीभावमें डूबे मानदासजी, जिस पथिकसे भी मिलते, बस अश्रु बहाते एक ही पद गाया करते थे -

आवत कालकी साँझ देख्यौरी गायन माँझ ।
कौनको ढ़ोटा री सखि शीश मोर पखियाँ ।

उन्हें तो पथिक पुरुष अनुभव ही नहीं होता। उन्हें अपने स्वयंके शरीरमें भी पुरुष-भाव नहीं रहा था। उन्हें उनका स्वयंका देह (वह भावदेह) गोपीका ही अनुभव होता था। वे राधाकुण्डपर किसी तमालके नीचे खड़े श्रीकृष्णको देखकर निहाल होते, आँसू बहाते रहते।

"अरी सखि ! वह कल (विगत दिवस) की संध्याका परम सुहावना समय था। जब मैंने गायोंके मध्य उसे देखा।

बहिन ! मुझे पता ही नहीं, वह श्यामल किशोर किसका पुत्र था, बस, मुझे तो उसकी पहचानका इतना ही ज्ञान है कि उसके मस्तकपर मोर-पंख खौंसे हुए थे।"

अतसी-कुसुम-तन चंचल-दीरघ नैन ।
मानो रस परीं लरत युग मखियाँ ।।

"अरी सखि ! उसका श्यामल सुन्दर वदन अतसी-कुसुमके वर्णका था, परन्तु उसके नेत्र अस्वाभाविक परम चंचल और बड़े-बड़े दीर्घ थे। वे ऐसे लगते थे, मानो दो बड़ी मक्खियाँ परस्पर लड़ती रस-कूपमें गिर गयी हों।"

धातुको तिलक कियें, गुञ्जनके हार हियें ।
उपमा न बनै दियें जेती तेती नखियाँ ।

"अरी बहिन ! वह वन-धातु (लालरंगके पत्थर) का तिलक किये था। उसके ऊपर वन गुञ्जाओंकी ही मालायें सुशोभित थीं। उसके नखोंसे शिखातक सभी अंग निरुपम सुन्दर थे री।"

राजत पीत-पिछौरी मुरली बजावै गौरी ।
देख भई बौरी इकटक रही अँखियाँ ।।

"अरी सखि ! उसके अंगोंमें पीतपिछौरी शोभा दे रही थी, वह अपनी मुरलीमें गौरी राग बजा रहा था। सखिरी, मैं तो उसे देखते ही बौरा गयी री, बस, मेरे नेत्रोंकी पलकें ही गिरना बन्द हो गयीं और मेरे नेत्रोंकी उसके मुखपर टकटकी ही लग गयी।"

चलत न सूधे मग डगमग परैं पग
भामिनि भवन लाई हाथ धरैं कँखिया ।

"अरी बहिन ! क्या करूँ री, वह प्रेममें भरा सूधे रास्तेसे नहीं चल रहा था, वह तो डगमग पैर रखता, मतवाला सा मेरी ओर ही देखता, मेरे घरके निकट आगया। अब मैं अपनेको कैसे रोक पाती री, मैं तो उसे गलेमें हाथ डालकर अपने घर ही ले आई। बहिन री ! यद्यपि इस मेरे आकस्मिक साहस और प्रेमको मेरी ननदें एवं सास अतिशय निन्दाकी दृष्टिसे देखेंगी, लोकमें मेरी अतिशय निन्दा ही इससे होगी, परन्तु मैं तो उसके पीछे दीवानी ही हो गयी हूँ।"

मानदास प्रभु चितचोर देख जीऊँ माई
और न उपाय दाव सुनौ मेरी सखियाँ ।

मानदासजी इस प्रकार सभीसे अपनी दशा बखान करते फिरते थे। वे कह रहे थे। "सखियों ! मैं तो उस मेरे चितचोरको ही देखकर जीवित हूँ, वह ऐसा हठीला है कि तबसे मेरे हृदयसे हटता ही नहीं है। सखियों, मेरे पास अब तो और कोई उपाय ही शेष नहीं बचा है। जो होना हो, सो हो।"

मैंने आपको जो तीन-तीन मिनटमें भगवत्स्मृति करनेका साधन बताया था, वह इन्हीं भक्त मानदासजीका चरित्र पढ़कर ही निर्देश किया था। मैं स्वयं भी यह साधन करता हूँ। आपका मेरे प्रति निर्मल, शुद्ध प्रेम देखकर चित्तमें ऐसा विचार उठा था, वृन्दावनमें आपपर भी कहीं ऐसी कृपा हो जाय, वह रसिक चूड़ामणि, हेतुरहित-अनुरागी, अपने डगमगे प्रेम-मतवाले चरणोंसे आपके मन-मानसमें भी गाय चराता उतर आवे, तो आप सदाके लिये निहाल हो जावेंगे, और क्या कहूँ –

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - पैंतीस (३५)

मेंहदी - सेवा

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प.पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीराधाकृष्णजी धानुका, श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला,

श्रीवृन्दावनधाम (मथुरा)

लेखन स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर

दिनांक :
श्रावण कृष्ण १३,
सं. २००५ (सन् १९४८)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिशनजीडागाका पत्र-संग्रह

विषय :
गोरखपुरसे श्रीलाडिलीजीको वृषभानुपुर मेंहदी भिजवाना।

सन्दर्भ

श्रीबागीशजी शास्त्री वृन्दावनके एक रसिक भक्त थे। अजमेरके एक मुसलमान भक्त सनम साहबसे इन्होंने श्रीराधाबाबा एवं भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी महिमा सुनी थी कि ये अति उच्च-कोटिके रसिक सन्त हैं। इसके पश्चात् वृन्दावनधाममें राजवैद्य श्रीलक्ष्मीनारायणजीसे भी, जो हित-हरिवंश सम्प्रदायके माने हुए वैष्णव थे, पू. राधाबाबाकी प्रशस्ति सुनकर ये श्री भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एवं पू. राधाबाबाके दर्शनार्थ गोरखपुर आये थे। पू. श्रीराधाबाबाके आग्रहसे ये उनको 'राधासुधानिधि' ग्रन्थकी कथा अति एकान्तमें सुनाया करते थे। इस कथामें मात्र तीन व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। पू. राधाबाबा स्वयं, गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री । अत्यन्त रसमय कथा चल रही थी, कि पू. राधाबाबाको एक मेंहदी लीलाकी अति रसमयी अनुभूति हुई। इसी कथाके मध्य श्रीबागीशजीने यह भी उल्लेख किया कि श्रावणी तीजपर लाड़िलीजीको भक्तलोग बरसानेमें मेंहदी चढाया करते हैं। अतः पू. राधाबाबाने श्रीभाईजीके घरमें मेंहदी पिसवाई और उसे श्री भगवानदासजी सिंहानियाके हाथों बरसाने श्रीलाडिलीजीकी सेवामें प्रस्तुत

की। इसी आशयसे पू. श्रीस्वामीजीने श्रीमोहनलालजीको भी श्रीभगवानदासजीके संग बरसाने जाकर यह कार्य सम्पादित कर देनेका आग्रह किया था। इसी सन्दर्भ में यह पत्र है। इस घटनाके लगभग १६ वर्ष पश्चात् १९६४ ई. में पू. राधाबाबाने यह मेंहदी लीला मुझे सुनाई थी। उन दिनों पू. बाबा राधाभावमें डूबे रहते थे। उन्होंने मेंहदी लीलाका एक स्वरचित पद भी सुनाया था। यह पद संभव है अ. सौ. सावित्री बाईके पास सुरक्षित हो। मुझे जो उन्होंने मेंहदी लीला सुनायी थी, वह पत्रके पश्चात् अग्रिम पृष्ठोंमें दी गई है। पत्र निम्नलिखित है।

श्रीयुत मोहनलालजी झुनझुनूवाला तथा श्रीराधाकृष्णजी धानुका ! (श्री स्वामी चक्रधरजी महाराजने लिखाया है।) सादर सप्रेम श्रीराधा-राधा।

श्रीभगवानदासजी सिंहानिया बम्बईवालोंसे आप दोनों परिचित होंगे। ये मेरे अति प्रिय स्वजन हैं। श्रीबागीशजी शास्त्री पिछले दिनों यहाँ आये थे। उन्होंने कथा-प्रसङ्गमें ही उल्लेख किया था कि श्रावणी तृतीयाको (बड़ी तीजके दिन) सभी श्रद्धालु व्रजवासी बरसानेमें किशोरी रानीको मेंहदी चढ़ाया करते हैं। इसको सुनकर मेरे मनमें भी एक भाव-लहर उठी कि यहाँसे बहुत ही पवित्रतापूर्वक मेंहदी पिसवाकर लाड़िलीजीको भेजी जाये। अ. सौ. माताजी (श्रीभाईजीकी पत्नी) ने यह सेवा स्वयं स्वीकार कर ली और उन्होंने 'राधा-राधा' अखण्डनाम जप करते हुए मेंहदीको बीनकर, उसे पूरा स्वच्छ करके अपने हाथों पीसी है। उसको अति पवित्रतापूर्वक डब्बेमें पैककर, उसे जूटसे लपेट कर आपके पास भेजी जा रही है।

श्रीभगवानदासजी इसी उद्देश्यसे आपके पास आ रहे हैं। यदि कोई खास अड़चन नहीं हो तो मेरा सस्नेह अनुरोध है कि आप भी वृन्दावनसे इनके साथ ही बरसाने जावें और प्रतिपदाके दिवस श्रीलाड़िलीजीके अंगोंमें मेंहदी लग जाय, इसकी चेष्टा करें। आपके साथ रहनेसे भगवानदासजीको सुविधा रहेगी। आप लोग वहाँसे परिचित हैं, और ये भगवानदासजी पहली बार ही बरसाने जा रहे हैं। आपके कारण इन्हें प्रसाद आदि पानेमें कष्ट भी नहीं होगा। आप कुशलपूर्वक होंगे। इस उद्देश्यसे पहले इन्हें आपके पास भेज रहा हूँ।

राधा राधा राधा राधा राधा

(पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने वि. सं. २०२१ में जो मुझे मेंहदी लीला सुनाई थी, वह नीचे दी जा रही है। इसकी भाषा और कथा-रचना इस रसशून्य अज्ञ 'लेखककी है, अतः जो भी भाषा-जनित दोष समझमें आवें, उन्हें प. पू. राधाबाबापर आरोपित नहीं किया जाय। यद्यपि चेष्टा ऐसी ही की गयी है कि भाषा और भाव भी पू. राधाबाबाके स्वलिखित साहित्यसे ही सुचयन किये जायें, फिर भी शुद्ध वस्तु तो शुद्ध ही है, एवं नकल नकल ही है। पाठक लेखककी असमर्थता समझ, मात्र पू. राधाबाबाकी अनुभूत लीलाके माहात्म्य पर ही ध्यान रखेंगे।)

मेंहदी लीला

यह वृषभानुपुर ग्राम है। इस ग्रामकी शोभा ऐसी विलक्षण है मानो अपरिमित सौन्दर्य-सिन्धुकी लहरें ही यहाँकी पृथ्वी, पर्वतोंके सुरम्य रंग-बिरंगे उपल बनी हैं। ये हैं तो मात्र उपल ही, परन्तु इनकी शोभा नीलम, माणिक्य, पुखराज, कुन्दन और वज्रमणिको भी तुच्छ कर दे रही है। विशुद्ध सौन्दर्य वन, गिरि, निर्झर, गिरिस्रोत, जल, स्थल, तेज, पवन, और नभमें सर्वत्र ही पूर्ण-परिपूर्ण भरा छलक रहा है। कुरूपताका तो प्रश्न ही नहीं, अल्परूपताको भी यहाँ किसी कोनेमें स्थान नहीं है। गोपराज वृषभानुबाबाकी ऐसी विलक्षण यह निवास-नगरी है।

इस विलक्षण शोभाशालिनी पुरीमें उत्तरमें गिरिश्रृंगोंकी छायामें वृषभानु बाबाका भवन है। विधाताका सर्व कौशल इस भवनके निर्माणमें जैसे चुक गया हो, ऐसा विलक्षण इसका शिल्प है। सभी कुछ संविन्मय संधिनी शक्तिकी ही परिणति है। दिव्य रत्नोंकी बनी चतुः शालायें, चन्दनादि अत्यन्त मूल्यवान् काष्ठके सभी कपाटोंपर जीवन्तवत् स्वर्ण और रजतकी कलाकृतियाँ जड़ित हैं, कहीं-कहीं स्वर्ण और रजतके ही धातु-निर्मित कपाट हैं, परन्तु उनमें बहुमूल्य रत्नोंकी कलाकृतियाँ सुजड़ित है। स्तंभ ऐसे हैं, मानो मणि-पर्वतोंको काट-काट कर उनकी कलापूर्ण रचना की हो।

स्वर्णके झलमलाते कलश, दिव्य वेदियाँ, मुक्ता एवं प्रवालके चूर्णोंसे निर्मित प्रांगण, कहीं स्वर्णके, कहीं रजतके और कहीं स्फटिकके प्राकार, वृषभानुपुरी इन सबके मध्य जगमग-जगमग कर रही है।

इस शोभाशालिनी पुरीमें वृषभानुबाबाके महलके पिछवाड़े अत्यन्त सुन्दर वाटिका है। इसी वाटिकाके एक प्राकृतिक, अति मनोहरकुंजमें एक वृक्षकी टहनीमें बँधे झूलेमें राधारानी बैठी हैं। यह कुञ्ज ऐसा है जिसमें वर्षाकी बौछारोंसे तो झूलेपर बैठे व्यक्तिकी समुचित रक्षा हो जाती है, किन्तु उसे पावस ऋतुकी प्राकृत शोभा सम्यक्‌रूपसे दृष्टिगोचर होती रहती है।

कुञ्जभूमिमें रानीके झूलेसे कुछ ही दूरीपर गुणमंजरी आसीन है। वे झूलेको झुलानेकी स्वर्ण-खचित डोरी थामे हैं। वे झूलेको बहुत ही सुमन्द झौंटा दे रही हैं। रानीके झूलेके वाम एवं दक्षिण दोनों ओर रस एवं रति मंजरियाँ व्यजन एवं चँवर डुलाती खड़ी हैं। कोई मधुप अथवा लघु तितली-कीट कहीं रानीके अंग-सुवासपर आकृष्ट हुआ, रानीके अंगोंपर न बैठ पावे, इसके लिये वे पूर्ण सजग हैं। रानी खुले नेत्रोंसे समग्र वनको देख रही हैं। उनके नेत्र भाव-निमीलित नहीं हैं, पूर्ण विकसित हैं, फिर भी यह स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है कि भाव-प्रवणता रानीको प्रगाढ़तापूर्वक आक्रान्त कर रही है।

चतुर्दिक्, कृष्णमेघ उमड़े हैं। रानीको मेघाच्छादित गगन बहुत ही प्रिय लग रहा है। उन्हें यही प्रतीत हो रहा है, मानों उनके नवघन श्यामवर्ण प्रियतम ही प्रेमभरे चतुर्दिक् उमड़ रहे हैं। ज्योंही घन सुमन्द-सुमन्द गर्जन करते हैं इत स्ततः वाटिकामें वृक्षोंके नीचे विचरते मयूर जोरसे प्रिया-यहाँ, प्रिया-यहाँ निनाद करने लगते हैं। इनमें कुछ ऊर्ध्व शिखि कर आनन्दमें नृत्य कर उठते हैं।

रानीको इन मयूरोंके रूपमें यदा-कदा उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही नृत्य करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। रानीकी यह भाव-प्रगाढ़ता जब और उद्दीपित होती है, तो उन्हें गुण, रति एवं रसके रूपमें प्रियतम श्यामसुन्दर ही झूलेकी डोरी थामे अथवा व्यंजन लिये खड़े दृष्टिगोचर होते हैं। रानी प्रश्न कर उठती है – "अरे ! यह मेरे आश्वर्व-पार्श्वमें व्यजन लिये कौन है ? वे उच्च स्वरमें बोलती हैं– कौन है, कौन है ? काहे मेरे झूलेकी रश्मि थामे है ?

रानीकी भावदशाको जानती सखियाँ तत्क्षण ही प्रत्युत्तर देने उनके पार्श्वमें आ जाती हैं और कहती हैं – "बहिन ! हम रति, रस एवं गुण मंजरियाँ हैं।" इसके उपरान्त भी रानीको तो तीनों प्रियतम श्रीकृष्ण ही दिखती हैं। वे पुनः प्रश्न करती हैं – "रसमंजरी ! तू मेरे पास आ ! रति तू मेरे बायें खड़ी हो! जब तीनों पृथक् होती हैं, तब रानी 'रस', 'रति' एवं 'गुण' इस प्रकार एक-एकको स्पर्श कर-करके स्मरण करने लगती हैं। इसी प्रकार कभी-कभी रानीको अपना झूला एवं कभी वे स्वयं भी प्रियतम ही दृष्टिगोचर होने लगती हैं। उस समय भी अपनी प्राणसखी ललिताको वे पुकार उठती हैं – "अरी ललिता ! देख मुझे ढूँढ, तो, मैं तो अपना अनुसन्धान ही नहीं कर पा रही हूँ ?" रानी की इस भावदशा गंभीरताको भी सखियोंको ही संवरित करना होता है। आज भी रानी झूलेमें ऐसी दशाकी ओर ही अग्रसर हो रही हैं। कभी वे अन्तर्मुखी हुईं नेत्र-निमीलित कर लेती हैं, कभी टुक-टुक नेत्र विकसितकर सर्वत्र प्रसरित पावसके सौन्दर्यको वाटिकामें क्रीड़ा करता निहार रही हैं।

अचानक नव-घन आच्छादित नभमें चपलाकी तीव्र चमक होती है और अतिशय तीव्र गर्जन-ध्वनिसे वातावरण निनादित हो उठता है। रानी चौंककर बहिर्मुखी होती हैं।

कहीं सुदूर नभमें अतिशय मधुर सुरीली ध्वनिसे पपीहा 'पिहू', 'पिहू' पुकार रहा है। रानीको अनुभव होता है, जैसे सुदूर वनमें छुपे प्रियतम श्याम सुन्दर ही पपीहेकी ध्वनिका अनुकरण करते संकेत देकर उसे वन भ्रमणार्थ आमंत्रण दे रहे हैं। रानी विक्षिप्तवत् झूलेसे उतरनेकी चेष्टा करती हैं। तत्क्षण ही रति एवं रस मंजरियाँ अपना चँवर एवं व्यजन किनारे रख उन्हें सम्हालती हैं। रानी इन दोनोंके सहारे झूलेसे नीचे उतर आती हैं। वे उस आमंत्रण ध्वनिकी दिशाका संकेत पाने पुनः विक्षिप्त सी समुत्सुक होती हैं।

गुण भी खड़ी हो जाती है। गुणको दूरसे दिखाई पड़ता है कि मैया पौर्णमासी कीर्त्तिदारानीके साथ महलकी ओरसे आ रही हैं। वह शीघ्र जाकर रानीके कानमें उच्च-स्वरमें कहती है – बहिन ! संवरित होओ, मैया पौर्णमासी आ रही हैं।"

गुण इतने उच्च स्वरमें यह वाक्य कहती है कि रानी अतिशीलभरी विनयी दृष्टिसे सम्मुख देखने लग जाती हैं। सभी सखियाँ आदरमें खड़ी हो जाती हैं। सभी देखती हैं – काषाय-वस्त्रावृता, श्वेत-शुभ्रकेशा, तपोमूर्ति, तेजस्विनी ऋषि-स्वरूपा एक वृद्धा एक श्यामवर्णा सखीका सहारा लिये माता कीर्त्तिदाके सहित प्रासादकी ओरसे आ रही हैं। निकट आनेपर रानी उन परम तपस्विनीको प्रणाम करती हैं। मानो इस वृद्धा तपस्विनीके सम्मुख सभी प्रणत हों, इस भावसे पुष्पभरी लतायें धरणीकी ओर झुक जाती हैं, उन्नतग्रीवा वृक्ष नमित हो जाते हैं, मयूर नृत्य स्थगितकर तपस्विनीके निकट उनकी चरणधूलिमें लोटने लगते हैं। समग्र वातावरणमें ही जैसे श्रद्धा भर जाती है।

रानी निकट जाकर वृद्धा तपस्विनीको ज्योंही प्रणाम करनेको उद्यत होती हैं, वे उन्हें उठाकर अपने वक्षसे लगा लेती हैं। वे अति वात्सल्यभरी रानीके सिन्दूर-रञ्जित सीमान्तको प्रेमाश्रुसे अभिषिक्त करने लगती हैं। सखियाँ तुरन्त एक ऊँचा आसन बिछा देती हैं, और माता कीर्त्तिदा आग्रहकर उन्हें उसपर बैठा देती हैं। वृद्धा तपस्विनीके बैठ जानेपर सभी सखियाँ एवं माता कीर्त्तिदा भी यथास्थान बैठ जाती हैं। मैयाके पास रानी बैठी हैं। वृद्धा तपस्विनीके विलक्षण तपोतेजसे समग्र वातावरण दिप-दिपा उठता है।

आशीर्वादात्मक अति गंभीर ध्वनिमें तपस्विनी कहती हैं – "बेटी राधा ! आज श्रावण शुक्ला प्रतिपदा है। आज सभी सुहागिन स्त्रियाँ पीहरमें अपने हाथों

एवं चरणोंमें मेंहदी रचना करती हैं।" यह कहती वृद्धा तपस्विनी नेत्र निमीलित किये ध्यानस्थ हो जाती हैं। वृद्धाके साथ आयी किशोरी श्यामाके नेत्र रानीके मुखपर मँडराने लगते हैं। यह किशोरी वृद्धाके पाससे अचानक उठकर रानीके बगलमें उससे सटकर बैठ जाती है। सहसा तपस्विनी अपने नेत्र पुनः खोल देती हैं। वे अपने साथ आयी श्यामाको रानीके पार्श्वमें आसीन देख, किंचित् मुसकरा उठती हैं। फिर कहती हैं – "बेटी ! देख, मैं तेरे लिये कैसी सुन्दर मेंहदी लाई हूँ। इस मेंहदीको मैंने स्वयं ही अपने हाथों अपने आश्रममें वपन किया था। जब यह पूर्ण पल्लवित हो उठी तो इसके पत्र मैंने सौभाग्य-मंत्रका जाप करते हुए स्वयं ही तो चयन किये, स्वयं परिमार्जित और स्वच्छ किये और स्वयं ही अपने हाथों इन्हें पीसकर विगत रात पद्मगन्धी यमुनाजल में भिगोकर तेरे पास इसका लेप निर्माण करके लायी हूँ। बेटी ! यह मेरे साथ आयी चंचला श्यामा किशोरी जो अब तेरे साथ सटकर बैठ गयी है, मेंहदी माँडनेकी कलामें परम धुरीण है। यह अनेक कलाओंकी पूर्ण मर्मज्ञ है, जैसे नृत्यकला, गायनकला, चित्रकला आदि। मैंने इसकी सभी कलाओंकी परीक्षा ली है और इसे पूर्ण पारंगत जानकर तेरी सखी बनाने, तेरे पास लाई हूँ। बेटी ! यह तेरे हाथोंमें और चरणोंमें इतनी सुन्दर मेंहदी रचना करेगी कि इसकी कला देखकर फिर तू इसे कभी नहीं छोड़ेगी। ले, सँभाल ले, इस मेंहदी पात्रको और इस मेंहदी रचानेवाली सखीको।"

यह कहती हुई वृद्धा तपस्विनी एक मृत्रिका-पात्रमें भिगोई मेंहदी रानीके हाथोंमें दे देती हैं। रानी प्रणत हुई वह पात्र लेकर पार्श्वमें खड़ी रतिमंजरीको सौंप देती है। वृद्धा तपस्विनी अब उठ खड़ी होती हैं, फिर रानीके मस्तकको सूँघती, उन्हें आशीर्वाद देती चलनेको उद्यत हो उठती हैं। रानी कीर्त्तिदा उन्हें अपना वाम-कंधा सम्हलाती हैं। वे उनका सहारा लिये महलकी ओर चल पड़ती हैं।

दो-चार कदम चलते वृद्धा तपस्विनी पुनः रुक जाती हैं एवं मुसकराकर कहती हैं – "यह श्यामा अति एकाग्रचित्त हो मेंहदी लगाती है, इसे कोई विक्षेप नहीं हो, अतः एकान्त कुंजमें इससे मेंहदी-रचना कराना।" यह कहकर पुन तेजीसे वे प्रासादकी ओर बढ़ चलती हैं।

लो ! वृषभानु प्रासादके ही पिछवाड़े गिरिस्रोतके तटपर ही एकान्त स्थलमें एक परम सुन्दर, सौम्य निकुञ्ज स्वतः प्रादुर्भूत हो गया है। सभी शृंगारोपयोगी सामग्रियाँ इसमें प्रचुर मात्रामें यथास्थान सुसज्जित हैं। अति मनोरम रत्न-विजड़ित चन्दन काष्ठके प्राकारोंमें सुजटित आरसियाँ यथास्थान

सजी हैं। स्थान-स्थानपर मखमलकी गद्दियोंसे युक्त रत्न जड़ित स्वर्णके पीठासन रखे हैं। मणि मुक्ताओंकी झालरोंसे कुंज-कक्ष जगमगा रहा है। स्वर्ण-पिंजरोंमें शुक-सारिकादि पक्षी समासीन हैं। मनोरथ करते ही मनोवांछित प्रसाधनकी सभी वस्तुएँ यथावसर प्रदान कर दे, ऐसी इस निकुंजमें विधाता-प्रदत्त स्वतःसिद्ध शक्ति है।

देखो ! श्यामासखी रानीके संग इस कुञ्जमें पदार्पण करती हैं। अति विश्रामदायी एक पीठासीनपर रानी विराजित हो जाती हैं। रानीका संकेत पाकर सभी सखियाँ निकुञ्जसे बहिर्गत हो जाती हैं और निकुञ्ज एकान्त हो जाता है। श्यामासखी मेंहदी रचनाकी सभी उपयोगी सामग्रियाँ यथास्थान सज्जित कर, रानीके चरण-प्रान्तमें ही स्थित एक मखमलके आसनपर स्वयं बैठ जाती हैं।

लो ! सखीने मेंहदी-रचनार्थ रानीके चरणोंसे अंगुलीयक, अंगुष्ठक एवं नूपुरादि चरण-सज्जित अलंकारोंको विलग कर दिये। ये सभी अलंकार सचेतन चिन्मय जो हैं। देखो ! ये वियोग-दुःखभारसे व्यथित कैसे शोभाहीन हो रहे हैं ! किन्तु साथ-ही-साथ रानीके सुकोमलतम चरणोंमें सौभाग्य-मेंहदी समलंकृत होगी और वे इस श्रृंगार-रचनाके द्रष्टा-साक्षी रहेंगे, इस भावसे, सुख-भावसे भी भावित हैं। युगपत विरह और सुख दोनों भावोंका प्रकाश करते इन सब अलंकारोंकी अहा ! कैसी विलक्षण शोभा है ! लो ! सखीने प्राण-प्रिया रानीके रक्तोत्पल-सदृश सुकोमल दोनों चरणोंको अपने कर-सरोजोंमें विधृत कर लिये हैं। देखो भाई ! इस सखीको हो क्या गया है ? यह एक क्षण तो इन चरणोंको अपने अधरोंसे संस्पर्शित कर रही है; कभी निज पलकोंसे इनकी रज स्वच्छ करती है। यह नयन मूँदे कुछ अस्फुट-स्वरमें बोल भी रही है। आओ ! इसकी मधुर वाणी सुनें। अरे ! यह कैसी विलक्षण सखी है ? इसकी मधुर-वाणी आनन्दोदधिकी उच्छलित तरंगें तो हैं ही, किन्तु इसकी वाणीमें पुरुषोचित गांभीर्य भी है। कोई स्त्री इतने गंभीर स्वरवाली हो, कभी देखनेमें तो नहीं आयी। देखो ! यह तो रानीके चरणोंको अपने नलिननयनोंके प्रेमाश्रुओंसे भिगो रही है। अरे, अरे, यह नयन मूँदे किसी विलक्षण प्रेम-समाधिमें ही डूब गयी ! यह इस भाव-दशामें कैसे मेंहदी-रचना करेगी। कलात्मकताका प्रदर्शन कुछ तो बहिर्मुखताकी अपेक्षा भी करेगा ही !

श्यामासखीको प्रेमसमाधिमें डूबी देख, रानी सखियोंका आह्वान करती है। ललिता श्रृंगार कक्षमें तत्क्षण ही प्रविष्ट होती है। रानी एवं ललिता दोनोंही श्यामासखीको जाग्रत करनेके लिए झकझोरती हैं। अचानक दोनोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता। श्यामासखीके वक्षोजोंके रूपमें उसके वक्षस्थलमें संलग्न

कन्दुक, उसे झकझोरते ही उसके वस्त्रोंसे बहिर्गत हो जाते हैं। ललिता मुसकाने लगती है। रानीका आनन – सरोज लज्जासे रक्ताभ हो उठता है। रानीके सम्मुख अब तो सभी रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि मेंहदीके मिस उसके प्रियतम श्यामसुन्दर ही श्यामासखी बने, तपस्विनी वृद्धा पौर्णमासीको भी छल गये हैं, और कीर्तिदा मैयाको भी वंचना दे गये हैं। किन्तु अभीतक प्रियतमकी प्रेमजन्य मूर्च्छा निवृत्त नहीं हुई है। ललिता एवं रानी उन्हें उसी कुञ्जमें सुसज्जित मनोरम पद्मशय्यामें लेटा देती हैं। रानी प्रियतमके मस्तकको अपनी गोदमें लेकर उसी शय्यामें आसीन हो जाती हैं। सहसा प्रियतम श्यामसुन्दरको किञ्चित् बाह्य जाग्रति होती है। वे कुछ अस्फुट शब्द उच्चारण करने लगते हैं– "हे मेरे प्राणोंकी रानी ! हे मेरे सर्वांगोंकी सम्मोहिनी !! हे मेरे समग्र आनन्दकी उद्गमस्थली !!! हे मेरी प्राण संजीवनी !!!! तुम्हारे इन चरणोंके आश्रयसे मुझे क्षणभरके लिये भी कभी पृथक् मत करना। अब तो मेरे प्राणोंकी समूची वृत्तियाँ ही सर्वतोभावेन तेरी चरण-नख-ज्योत्स्नामें ही समाहित हो गयी हैं।"

"मेरी श्रवणेन्द्रियोंमें तेरे चरणोंमें सुजड़ित नूपुरोंकी झंकार ही बस गयी है। मेरा मन तेरे चरणगत तालुओंकी लालिमामें ही पूर्णरूपेण स्थिर हुआ रम गया है। प्राणेश्वरी ! तुमसे मैं किंचित् भी कपट नहीं करता। यह मेरे अन्तर्हृदयकी सुगुप्तसे सुगुप्त बात है। वस्तुतः तुम्हारे शुचितम चरणोंमें ही मेरा स्थान है। तुम मुझे वहीं बसाये रखना। मेरे इस सौभाग्यसे मुझे कभी वंचित मत करना।"

"मेरी रानी ! यह मेंहदी तो मेरा ही स्वरूप है। यह तेरे चरणोंमें संलग्न होते समय तो अपने बाह्य कृष्ण स्वरूपमें ही संयुक्त होती है-किन्तु जब कुछ काल पश्चात् यह तेरे चरणोंसे वियुक्त होगी तो तेरे चरणोंमें अपना समग्र प्रेम राग रंजित कर जायेगी। इसी प्रकार, जब मैं तुझसे मिलता हूँ, तो अपने समग्र स्नेह-रागको ही तेरे प्राणोंमें संलग्न कर जाता हूँ। मेरी प्राण संजीवनी ! मैं तो मेंहदीके रूपमें तुझसे संलग्न होने ही तो आया था।"

रानी देखती है कि उसके प्राणनाथ नीलसुन्दर अर्द्धचेतनावस्थामें भी उसके चरणोंको ही स्पर्श करनेको आतुर हैं। वे अपने प्रियतमके कर युगलोंको अपनी अंजलिमें बाँध लेती हैं। वे अपने प्राणनाथ नीलसुन्दरको अनन्त, अपरिसीम, अनुपम प्रेमभावमें डूबा देखकर स्वयं भी उन्हीं प्रेमोदधिकी ऊर्मियोंमें डूबने लगती हैं। उन्हें उसका ही नहीं समग्र विश्वका कण-कण अपने प्रियतमके अथाह प्यारसे परिवेष्टित दृष्टिगोचर होने लगता है। रानीके हृद्देशमें भावोंकी आँधी सी आने लगती है।

सहसा हकबकायेसे प्राणसुन्दर नीलमणि सचेतन हो उठते हैं। वे देखते

हैं कि उनका छद्म सखी-वेष तो उतर गया है और वे रानीकी गोदमें लेटे हैं। ललिता ! हँसकर विनोद करती है – "अहो वंचकशिरोमणि ! आपके सखी नाट्यकी बलिहारी है।"

प्रियतम नीलमणिके नेत्र प्रेममें पूर्ण पगे छलक रहे हैं। वे रानीकी ओर अति सतृष्ण होकर देखते हैं और कहने लगते हैं। "प्राणवल्लभे ! तेरे चरणोंके तनिकसे संस्पर्शने जब मेरा समग्र छद्म मिटा दिया है और मैं जैसा हूँ वैसा सम्मुख हूँ, तो अब मुझे यह मेंहदी-श्रृंगार तो कर लेने दो। क्या मेरे जीवनका अणु-अणु अतृप्त अभिलाषाओंका ही आगार बना रहेगा ? प्रिये ! तू तो अपरिसीम सौहार्दकी सिन्धु है। जिस लालसाकी पूर्त्तिके लिये मैंने पौर्णमासी देवीसे वंचनाकी, वह मेरी लालसा तेरी महानुभावतासे पूर्ण तो हो जाय।"

रानी हँसकर अपने प्रियतमके कण्ठसे लिपट जाती हैं। ललिता हँसकर कहती है – "ये आपकी हैं, और आप इनके। हम मध्यमें क्यों और कौन ? चलो सखियों निकुञ्जको एकान्त करो।" सभी सखियाँ खिल-खिलाकर हँसती कुञ्जके बाहर हो जाती हैं।

* * * * * *

प्रियतम नीलसुन्दर एक पद्मपीठपर अपनी प्रियाको समासीन करके देखो ! उनके चरणोंमें मेंहदी-रचना कर रहे हैं। रानीके सुकोमलतम युगल चरण अपनी गोदमें रखे वे अपनी प्रियाके चरण-प्रान्तमें ही बैठे हैं। एक रत्नपात्रमें अतिशय बारीक पिसी मेंहदी, पुष्पसार (इत्र) में भीगी रखी है। मेंहदी अपने आपमें इतनी सुवासित है कि उसमें इत्रसारका मिश्रण अनावश्यक लग रहा है किन्तु वृन्दावनकी समग्र पुष्पलताओंका मनोरथ भला प्रियतम कैसे अनदेखा कर पावें ? इन लताओंको अपने पुष्पों द्वारा प्रियाके चरणोंमें संलग्न होनेका अवसर तो इस पुष्पसारके मिस इसीसमय जो मिल रहा है। प्रियाके चरणोंको अपने रागसे रंजित करनेका सुअवसर तो आज ही है, यह अवसर चूक जानेके पश्चात तो ऐसा सौभाग्य बार-बार मिलनेसे रहा। प्रियाकी केशराशि तो प्रतिदिन ही पुष्पसारोंसे सिक्त होती है। वह कस्तूरी, केसरके कल्क-धूमसे प्रतिदिन सुवासित भी होती है। रानीके अंगों-अंगोंमें उबटन-द्रव्य निर्माण करनेमें भी पुष्पचूर्णोंका उपयोग प्रतिदिवस होता है, परन्तु कल्क, उबटन, केसर-लेप आदि चरणोंको कहाँ संस्पर्श कर पाते हैं ? प्रियाके चरणोंकी अपनी एक विशेष महिमा जो है; फिर ये इन महामहिमामण्डित चरणोंकी सेवासे भला कैसे वंचित रह जावें अतः जबभी प्रियाके चरणोंको अनुरञ्जित करनेके लिये मेंहदीकी पत्ती तोड़ी जाती है, तो आश्र्व-पार्श्वमें विकसित सुरम्य सुगन्धिधारी

सभी पुष्प भी प्रार्थना करने लगते हैं – "बहिन मेंहदी ! यह हमारा सौभाग्य ही है कि हमारी सजातीय तू आज अपने पत्रों द्वारा प्रियाकी चरण-सेवा करने जा रही है। बहिन ! इस गर्वसे इतनी सुवासित मत हो उठना कि हम सभीके पुष्पसारसे तुझे भिगोया नहीं जाय। आज ऐसी अप्रतिम सेवाका अवसर तुझे जो मिला है, उसमें भले ही प्रमुख भूमिका तेरी ही रहे, परन्तु तेरे साथ हमारा सहयोग भी बना रहे, यह सदा ध्यान रखना।"

इस प्रार्थनाका ही यह फल है कि मेंहदीने अपनी सुगन्धि मन्द-मधुर ही रखी है और प्रियतमने इसके चूर्णमें पुष्पसार (इत्र) मिलाकर जो लेप निर्माण किया है, वह लेप ही प्रियाके चरणोंमें प्रयुक्त हो रहा है।

प्रियतमने अपने दक्षिण हाथमें पुष्पवृन्तोंसे निर्मित एक सुकोमल शलाका ले रखी है और उसीको मेंहदीलेपमें डुबोकर वे चित्र निर्माण कर रहे हैं। रानीके दक्षिण चरण एवं वाम चरणके चतुर्दिक् तो उन्होंने लता-जाल निर्माण किया है। इस लताजालके प्रत्येक पत्रमें उन्होंने 'कृष्ण' नाम लिखा है। चरणके मध्य भागमें अँगुलियोंके ऊपर उन्होंने एक कदम्बवृक्ष और उसके नीचे स्वयं अपनी मुरलीवादक छबि अंकित की है। गगनमें पूर्ण चन्द्र और राकानिशाकी शोभा सज्जित की है। किन्तु उसमें वृक्षोंकी ओटसे चन्द्र झाँक रहा है। वामचरणमें उन्होंने एक वृक्षके नीचे प्रियाकी पद्म शय्यामें शयित छबि निर्माणकी है और स्वयं प्रियाके चरणोंके समीप बैठे निज प्रियाके चरणोंका संवाहन कर रहे हैं – ऐसी छबि निर्माणकी है । वृक्ष यमुनाके तटपर स्थित है, और यमुनामें हंस-हंसिनी गण तैर रहे हैं। यमुनामें सर्वत्र कमलिनियाँ भी विकसित हैं।

प्रियतम, प्रियाके चरणोंमें मेंहदी-रचना सम्पूर्ण करके किंचित् विराम लेते हैं और कहने लगते हैं – "प्रिये ! तुम्हें पता है, यह तेरे चरणोंमें मेरे द्वारा मेंहदी रंजित करानेका संकल्प किसका है ?"

प्रिया मुग्ध-सी अपने प्रियतमके मुखकी ओर ताकने लगती हैं। प्रियाकी अवलोकनी इतनी सरल एवं स्नेहभरी है कि प्राणवल्लभ नीलसुन्दर अपनेको संवरित ही नहीं कर पाते और उसे अपने वक्षमें सटा लेते हैं। फिर कहने लगते है – "प्रिये चलो ! प्रपंचकी भारत-भूमिमें चलें। प्रपंचके कालमानानुसार आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व हम दोनोंने इस भूमिखण्डके व्रजप्रदेशमें अवतार ग्रहण किया था। प्रिये ! प्राकृत कालगणनाके अनुसार वहाँ तेरी उस अवतारकालमें एक शताब्दीसे भी अधिक कालपर्यन्त अतिशय महाभावोन्मादी चिन्मयी प्रेमलीला सम्पन्न हुई थी।

प्रिये ! अधुना इसी प्रपञ्च भूमि भारत-खण्डके गोरक्षपत्तन नामक नगरमें

तेरे विलक्षण कृपा-भाजन दो सन्त, तेरी परम कल्याणप्रद प्रीति-भावलीलामें आकण्ठ निमग्न हैं।

प्रिये ! यह भारत-भूखण्ड तेरा असीम-कृपाभाजन है। यदा-कदा तेरे भाव जगत्का प्रकाश यहाँ भिन्न-भिन्न सन्तोंमें यथाकाल, यथायोग्यता होता ही रहता है। तेरी कृपा-कोरको प्राप्त करनेवाले जिन वरिष्ठ सन्तद्वयकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, उनमें एक तो वैश्य जातिमें उत्पन्न गृहस्थ है और दूसरा गैरिक वस्त्रधारी सन्यासी ब्राह्मण शरीर है। इन दोनोंके पावन अन्तःकरण-मुकुर तेरी नित्य-नूतन अभिनव मधुर लीलाओंके बिम्बसे जगमगाते रहते हैं। ये दोनों आठोंयाम ही तेरी अतिशय प्रेम-गरिमामयी लीलाओंके द्रष्टा बने उसमें निमग्न रहते हैं। इस वैश्यजातिके गृहस्थ सन्तकी धर्म-पत्नीको वह सन्यासी अपनी धर्ममाता-तुल्य समादर करता है और उसमें भगवती पौर्णभासीका अंश क्रियाशील है। इस महासौभाग्यवती स्त्रीने ही इस सन्यासी सन्तकी प्रेरणासे तेरा पावन 'राधा' नाम जपते हुए मेंहदी संस्कारितकर तेरे प्रपञ्चान्तर्गत बरसाने ग्रामके मन्दिरमें स्थित तेरी मूर्त्तिके अर्चनार्थ भेजी थी। आज जो यह सम्पूर्ण लीला इसके चिन्मयधाममें संघटित हुई है, वह इसी सन्यासी सन्तके निर्मल संकल्पका प्रतिफल है।

आओ प्रिये ! एक क्षण हम दोनों इस तेरे कृपा भाजन गृहस्थ सिद्धसन्त और इस सन्यासीके राधा-परिवारपर एक दृष्टि डाल लें। चलो, बरसानेके मन्दिरमें मेंहदी लानेवाले इस सन्यासीके कृपा-पात्रोंकी अर्चनापर भी तेरी एक प्रेमभरी दृष्टि पड़ ही जाय।

यह कहकर प्रियतम नीलमणिने अपनी प्रियाको गोरखपुर एवं बरसानेका दृष्य दिखाया। सौभाग्यवश उस दिवस गीतावाटिकामें श्रावणीतीजके उपलक्षमें "राधा-राधा" नाम संकीर्त्तन हो रहा था। प्रिया-प्रियतम इस कीर्त्तनमें नृत्य करते-झूमते सभी उत्सवमें सम्मिलित महासौभाग्यवान् कृपा-पात्रजनोंपर दृष्टि डालते तथा बरसानेमें पूजामें संलग्न श्रीभगवानदासजी, श्रीमोहनलालजी आदि प्रियपात्रोंको निहारते, एक-दूसरेके स्नेहमें सराबोर आगेकी अपनी लीलाओंमें निमग्न हो जाते हैं।

(अन्तिम वर्णित सम्पूर्ण लीला कि प्रिया-प्रियतम गौरखपुरमें राधा-परिवारपर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं, पू. राधाबाबा द्वारा शब्दशः कथित है।)

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - छत्तीस

कब इन नैननि निरखिहौं वदन-चन्द्रकी कान्ति

पत्र-प्रेषक :

पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, श्रीरामलालजी चूड़ीवाला, श्रीउमादत्त माटोलिया एवं अन्य वृन्दावनवासी सत्संगी बन्धु

प्रेषण-स्थल : गीतावाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)

दिनांक : पौष पूर्णिमा, सं. २००३

प्राप्ति-सूत्र : श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह।

श्रीमोहनलालजी,

(श्रीस्वामीजीने लिखाया है)

सस्नेह राधा स्मरण ! आपके पत्र मिलते रहे हैं। इस बार आपको एक अतिशय सुन्दर पद लिखकर भेज रहा हूँ। यह पद मुझे अतिशय प्रिय लगता है, और मैं इसे प्रायः गुनगुनाता रहता हूँ। आपका सचमुच ही मुझपर बहुत ही विश्वास एवं प्रेम है, और मैं आपको पत्रोत्तर भी नहीं दे पाता। क्या करूँ ? मेरी स्थिति तो यह है कि ''बाबाजीकी झोलीमें जेवड़ा'' और भजन आपसे होता नहीं है। मैं चाहता हूँ, आपकी रहनी इस पदके भावों जैसी हो जाय, और आप अबतक सांसारिक वासनाओं और कर्त्तव्योंके जंजालसे निकल ही नहीं रहे। अतः बार-बार पत्रोंमें एक ही बात इधर-उधर उलटफेरकर दोहराता रहता हूँ।

चलो ! इस पदका ही आनन्द लेते हैं। न जाने हम सभीकी जीवनधारा इस उच्च श्रेणीकी प्रेममयी होकर प्रियाप्रियतमकी ओर कब मुड़ेगी और सच्ची चाहयुक्त यह हूक हमारे प्राणोंसे उठेगी।

यमुना तट निशि चाँदनी सुभग पुलिन तरु छाँहि ।
कब परमाकुल विरहिनी हम पिय पेखन जाहिं ।।

हाय ! कब यह सुदिन होगा, जब यमुनाका परम प्रेम-पावन तट होगा, सुन्दर सुभग पुलिन होगा, निर्मल चाँदनीभरी निशा होगी, तमाल अथवा कदम्बकी

छाँह होगी, और परमाकुल विरहिनी हम प्रियतमके चरणोंके दर्शन करने जावेंगी।

युगल-रूप आसव छकी तनिक न तनकौ ध्यान ।
विरह-दशा दारुण निरखि दम्पति दया-निधान ।
कबहुँ झुकत मो ओरकौं ऐहैं मदगज चाल ।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया, नवल-नँदलाल ।।

मुझे वे दोनों प्रिया-प्रियतम, अपने सौन्दर्य-सुधारूप आसवमें पूरी छकी देख, तथा तनके ज्ञानसे भी शून्य पाकर मेरी दारुण विरह-दशाको देखते हुए दया-निधान दम्पत्ति कभी-न-कभी अवश्य अपनी मदमत्त गजराजकी-सी चाल चलते हुए मेरे निकट आवेंगे और मुझपर झुकेंगे। वे दोनों प्रिया व नवल नँदलाल परस्पर गलबाँही दिये होंगे।

सिर झलकत मंजुल मुकुट कटि लौं लट रहि छूटि ।
सोहत ललित लिलार पर उभै भौंहकी जूटि ।।
ता मधि बैंदी रतनकी लर मुकुताकी हाल ।
नैन छके कछु-कछु अरुण सुन्दर सरस बिसाल ।।
कुण्डल झलक कपोल पर राजति नाना भाँति ।
कब इन नैननि निरखिहौं वदन-चन्दकी कान्ति ।।

उनके मस्तकपर मंजुल मुकुट झलमलाता होगा, और उनके केशोंकी लटें कमरतक लटक रही होंगी। उनके सुन्दर लिलारपर दोनों भौहोंके घने काले छोटे-छोटे बाल शोभा दे रहे होंगे। उन दोनों भौहोंके मध्य रत्न-जटित बिंदी शोभायमान् होगी और उसके ऊपर मोतियोंकी हाल शोभित होगी। उन दोनोंके सुन्दर रस-भरे विशाल नेत्र जो थोड़े-थोड़े अरुणाई लिये हैं। प्रेम-मद में छके हुए होंगे। उनके कुण्डलोंकी आभा कपोलोंपर दमक रही होगी, जो कुण्डलोंमें जडित अनेक प्रकारके आभूषणोंके कारण नाना प्रकारकी रंगत प्रकट कर रही होगी। अरी सखि ! कब वह शुभ दिवस होगा, जब मैं अपने इन नयनोंसे ऐसे प्रियतमके वदन-चन्द्रकी शोभा, कान्ति देख पाऊँगी।

भाई मोहनलालजी ! मैं तो उनकी कृपाकी बाट देख रहा हूँ, आप भी देखिये। पल-पल उनकी कृपाकी प्रतीक्षा हो जीवनके अन्तिम क्षणतक कभी तो वे हेतुरहित कृपालु दयाद्रवित होंगे ही। और क्या कहूँ ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - सैंतीस (३७)

नींद तोहि बेचूँगी आली !

पत्र-प्रेषक :

पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला एवं सभी वृन्दावनवासी सत्संगीजन।

प्रेषण-स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर ।

दिनांक :
भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा, संवत् २०२२ वि.

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाका
पत्र-संग्रह ।

प्रिय श्रीमोहनलालजी !

सप्रेम जय श्रीराधे । (पू. स्वामीजीने लिखाया है)

आपके पूर्व-पत्र मिले। आज श्रीलादूरामजी वृन्दावनसे आये थे। उन्होंने आपके समाचार दिये हैं।

राधाष्टमीका उत्सव यहाँ सोल्लास बहुत ही सुन्दर ढंगसे मनाया गया। इस उत्सवका परम दुर्लभ चरणामृत प्रसाद अलग पैकेटमें भेज रहा हूँ। इसे यमुनाजल अथवा गंगाजलमें चाहे जितना बढ़ाना चाहें, बढा लीजियेगा। सभी प्रेमियोंको अवश्य दें। श्रीनन्दकुमारजी ब्रह्मचारीको भी अवश्य दें। श्रीशिवभगवान्जी फोगलाको भी प्रसाद अवश्य देंगे।

इस बार आपने मुझे अनेक सुन्दर पद भेजे हैं। इन अनेक पदोंमेंसे एक पद मुझे बहुत ही भावमय लगा। आपने तो इसे रासधारियोंसे रासलीलामें सुना था, किन्तु पूरा स्मरण नहीं, संभवतः श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने इसे मुझे सुनाया था। मुझे उनके गायनके साथ एक लीलाकी भावना भी हो उठी थी। मानसिक कल्पनाएँ तो सुन्दर पदोंके साथ होती ही रहती हैं। इन दिनों आपका यह पद दिन-रात मनमें छाया रहता है। प्रेमकी आश्चर्यजनक स्थिति को यह पद झलकाता है।

नींद तोहि बेचूँगी आली, जो कोई ग्राहक होय ।।

प्रेम-रस-भावित-मति व्रजसुन्दरियाँ प्रेमकी उच्चावस्थामें अपना समग्र

व्यावहारिक ज्ञान खो बैठती हैं। जिस तमालके अथवा कदम्बके नीचे श्रीकृष्ण खड़े हो जाते हैं, वे उस तमालसे लिपटीं उस भूमिखण्डमें पड़ी रहती हैं। वे लता-वल्लरियोंसे वार्त्ता करती रहती हैं। हरिणियोंके द्वारा अपने प्रियको अपना प्रेम-सन्देश भेजती हैं, यहाँतक कि उन्हें प्रतीत होने लगता है, मानो निद्रा भी खरीदने-बेचनेकी वस्तु है। वैसे तमोगुणसे उत्पन्न निद्रा तो व्रजसुन्दरियोंको संस्पर्श ही नहीं कर सकती। हाँ ! अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके चिन्तनमें वृत्तियोंके सर्वथा तन्मय हो जानेपर वे आत्मविस्मृत अवश्य हो जाती हैं। इस आत्मविस्मृतिको ही वे निद्रा मान बैठती हैं। सुषुप्तिकी भाँति अज्ञानमें उनकी वृत्तियाँ लीन हो जावें, ऐसी उनकी निद्रा नहीं। उनकी चित्तभूमिमें तो सोते समय भी नित्य-निरन्तर अखण्ड श्रीकृष्ण-स्फुरण होता ही रहता है।

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदय तें यह श्याम मूरति छिन न इत-उत जात ।।

तो गोपीकी निगोड़ी आँखोंको रोग लग गया है। उसे सभी वस्तुएँ श्याम ही श्याम दिखाई पड़ती हैं। गोपी चलती है तो उसे पथके चतुर्दिक् सभी वस्तुओंके अन्तरालमें श्यामसुन्दर ही भरे दृष्टिगोचर होते हैं। वह देखती है तो उसे सभी वस्तुएँ श्याममय दिखती हैं। गोपीके स्वप्न उसके प्रियतम श्यामसुन्दर से संबंधित ही होते हैं और निद्रा भी उसकी एक भावसमाधि ही माननी चाहिये। जिसमें अन्य स्मृतिरहित वह मात्र अपने प्रियतमकी स्मृतिमें डूबी रहती है।

तो गोपी बाह्य जगत्के लिये तो सो रही है, परन्तु उसके भीतर उसका मन तो इस मयूर-मुकुटीकी छबिपर निरुद्ध डूबा है। उसके हृदयमें स्थिर दृश्य है – अहा ! घन कृष्ण कुंचित कुन्तल राशिपर मयूर-पिच्छ गुंफित मुकुटाभरण कैसा फब रहा है ? श्री अंगोंपर ललित त्रिभंगमुद्रा देखते ही बनती है। चंचल अरुणिम नेत्रों की चितवनसे प्रीति-रसका निर्भर झर रहा है। गोपी विलक्षण निद्रामें निद्रित है। उसके चतुर्दिक् अतुलनीय सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य जगमगा रहा है। इस प्रगाढ़ निद्रादर्शनमें जितने सुन्दर उसे प्रियतम दिखते हैं, वैसे तो उसकी आँखों ने जाग्रतमें भी कभी नहीं देखे थे।

सहसा गोपीकी नींद खुल जाती है। वह नक्षत्रोंकी स्थितिसे अनुमान लगाती है कि अभी मात्र अर्धनिशा ही है। उसे यह समझमें ही नहीं आता कि निद्रामें प्रियतमका दर्शन कैसे संभव है ? वह स्वप्न तो कदापि नहीं था ? क्योंकि स्वप्नमें स्थिर वृत्ति कदापि संभव नहीं – और घोर निद्रामें कुछ भी दर्शन संभव नहीं। फिर कोटि-कोटि कन्दर्पोंको लज्जाके घन आवरणमें डालनेवाला वह सौन्दर्य उसे निद्रामें कैसे दर्शन होना संभव हुआ ?

गोपी विचारते-विचारते भावसमुद्रमें डूबने लगती है। वह स्वेदसे लथपथ हो जाती है। बार-बार उसे रोमाञ्च और कम्प होने लगता है। वह यही निर्णय करती है कि वह तो घोर निद्रामें सोयी पड़ी थी और उसके प्रियतम यहाँ आये थे। उन्होंने उसे घोर निद्रामें शयित देखकर एक अभिनव रसक्रीड़ा की थी। वे उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर गये और प्रेमवश उसे सोती हुई को भी अपनी उपस्थिति दिग्दर्शित कराके वे चले गये।

गोपीको उसके प्रियतमने जगाया नहीं, परन्तु वे उसके एकान्त शयनकक्ष तक आये थे, तभी न उसकी निद्रामें भी उसे उनकी मादक प्रेममयी छबिके दर्शन हुए थे। अहा ! कैसी मनोहर थी, उनके अलक-जालकी शोभा ! कितने मृदुल अंग-संस्थान थे, उनके। वह मृदिमा भी नित्यनूतन होती चली जा रही थी। उसके प्राणोंको चरम सीमातक आकर्षित कर गयी, वह। उनके सौरभसे त गोपीका कक्ष अबतक महक रहा है।

इस प्रकार सोचती गोपी व्याकुल होकर प्रांगणकी ओर दौड़ पड़ती है। उसे प्रांगणमें दिखाई पड़ जाते हैं चक्र, छत्र, यव एवं अंकुशके चिन्ह जो उसके प्रियतमके ही पद-चिन्ह हैं। अब तो गोपीके दुःखका पारावार नहीं।

"आह ! रे प्रियतम आँगनमें आये और लौट गये और अरी बैरिन निद्रा ! तूने मुझे सुलाये ही रखा ?

आये मोहन फिरि गये अँगना, मैं बैरिन रही सोय !
कहा करूँ कछु बस नहिं मेरो, मिल्यौ रतन दियो खोय ।।
लछीराम प्रभु अबकैं मिलैं तो राखूँगी नयन समोय ।
नींद तोहि बेचूँगी आली जो कोई ग्राहक होय ।।

अहा ! कैसे विलक्षण प्रेमभरे भाव हैं। गोपी नींदको बैरिन समझकर उससे अतिशय कुपित है। वह उसे बेचनेको व्यग्र है, परन्तु उसे व्रजमें श्रीकृष्णके ग्राहक तो भले ही मिलें, निद्राका ग्राहक तो मिलना ही असंभव है। निद्रा तो उसे क्या सभी गोपियोंको धोखा देती है। वह उनके विरहतापको भुलाकर उन्हें विश्राम तो अवश्य देती है, परन्तु उन्हें वह अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिसे तो काटती ही है, यह गोपियोंको स्वीकार जो नहीं, परन्तु कठिनाई यही है कि व्रजमें गोपीको नींदका ग्राहक दिखता ही नहीं। गोपी कहती है –

"अरी नींद ! मैंने तुझे अपनी सखी समझा था। अपने प्रियतमके विरहमें जब मैं अतिशय व्याकुल होती थी तो तू मेरी व्यथा हरने आया करती थी तू उनसे मुझे स्वप्नोंमें मिलाया भी करती थी। मैं तेरा अति उपकार मानती थी।

परन्तु तू तो पूरी ठग निकली। तूने मुझे तो सुलाये रखा और जब प्रियतम मेरे पास आये, तो तू मुझ सुषुप्तको छोड़कर उनके साथ रमण करने लगी ? अरी कुटिला ! तूने तो आज मेरा मिला अनमोल रतन ही मुझसे छीन लिया। परन्तु बहन ! तेरा दोष नहीं, वे हैं ही ऐसे। वे नीलसुन्दर जब अपने बंकिम नेत्रोंसे किसीकी ओर देख भर लेते हैं, तो रमणियोंका धर्म और धैर्य ही छूट जाता है। फिर तेरा मन भी उनमें रम गया इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अरी ! जब समग्र वनके भ्रमरदल ही उन्हें देखकर व्याकुल हुए अपने प्रियतम कमलका मधुपान त्यागकर उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं, जब यमुना उन्हें देखकर अपना प्रवाह बदल कर, उलटी बहने लगती है, तो तू तो निद्रा ! युवती ठहरी । तूने मुझ दुखियाको ही ठग लिया ? परन्तु सखि ! मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकती। यह एक दिनकी बात तो है, नहीं ! तू तो सदैव ही ऐसा करेगी। फिर तो मैं अपने प्रियतमसे सदैवके लिये वंचित हो जाऊँगी। इस व्रजमें तो अनन्त प्रियतम-विरहिनी हैं। विरह-दुःख-पीड़ित किसीने भी अपनी व्यथा हरनेके लिये तुझे चाहा, मैं उसे तेरा दान कर दूँगी। चाहे वह बिना मोल ही तुझे मुझसे खरीद ले। तुझे बेचनेसे ही मुझे प्रियतम मिल पावेंगे। इस बार तो यदि वे आये, तो उन्हें सदा-सदाके लिये मैं नयनोंमें ही समोये रखूँगी। एक क्षणके लिये भी पृथंक् नहीं करूँगी।

मोहनलालजी ! बड़भागिनी व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णदर्शनमें बाधा समझकर निद्रा जैसी वस्तुको भी विक्रय करनेका संकल्प कर रही हैं, और हमलोग इतने अभागे हैं कि प्रत्यक्षमें जो वस्तुएँ श्रीकृष्ण-दर्शनमें निरन्तर बाधक हैं, उन्हें चाह-चाहकर, आमंत्रण दे-देकर अपने हृदयमें बसाते हैं। उनके नहीं मिलनेसे बहुत ही दुखी होते हैं।

मोहनलालजी ! आप तो व्रजमें बसते हैं। श्रीराधारानीकी अपारकृपासे व्रजवास मिलता है। परन्तु जैसे शरीर व्रजमें है, वैसे मनका प्रत्येक संकल्प, उसका अणु-अणु व्रजकिशोरी एवं व्रजकिशोरसे भर जाय, इसकी चेष्टा करें।

सभी प्रेमियोंको यथायोग्य कहेंगे।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या : अड़तीस (३८)

तुलसी पूजन

पत्र-प्रेषक :

पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला

प्रेषण-स्थल : अजमेर (पूरा पता नहीं)

प्राप्ति-सूत्र : श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह

दिनांक : ता. ७.१२.४३

प्रिय मोहनलालजी ! (पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजने लिखाया है) पुनः दर्द बढ़ जानेके कारण, मैं, रामस्नेहीजी, गोस्वामीजी, पुरुषोत्तमजी आदि आज यहाँ चले आये हैं। इसीसे आपको पत्रोत्तर नहीं दे पाया।

तुलसी पूजनके सम्बन्धमें आपने लिखा कि श्रीराधारानीने जो तुलसीका अनुष्ठान किया था जिसमें, दूध, ईखका रस, एवं आम्ररस चढ़ाया था, वैसे ही मैं भी उसी विधि-विधानसे पूजन करना चाहता हूँ, सो मेरी दृष्टिमें आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। क्योंकि व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसा देखा जाता है कि जिस तुलसीमें ये वस्तुएँ सिञ्चित की जायेंगी, वह तुलसी सूख जाती है। आपने पुष्करमें ऐसा किया भी था और तुलसीजी तत्काल ही सूख गयी थीं।

श्रीराधारानीने जो तुलसीका अनुष्ठान किया, वे तुलसीजी चिन्मय थीं। उन्होंने प्रकट होकर समग्र सामग्री स्वीकार की थी। श्रीराधारानीके तो संस्पर्शमात्रसे ही दूध, ईखका रस एवं आम्ररस सभी चिन्मय हो गये थे। वे तो राधारानीके समान उनका स्वरूप ही बन गये थे। जिस गायका दूध श्रीराधारानीने प्रयोग किया, जिस आम्रवृक्षके वे आम्रफल थे, एवं जिस ईख-पौधेका रस निकाला गया था, वे सब आजके जैसे अधम योनिके प्राणी नहीं थे। वे तो बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि एवं मुनि ही होंगे। वे ऋषिगण अपने अनिर्वचनीय पुण्य प्रभावसे रानीकी सेवाके उपकरण बने होंगे। अतः वह राधारानीकी पूजा और हम प्राकृत देहधारियोंकी पूजामें कदापि साम्य नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि उनका अनुगमन करके उनका आदर्श रखकर हम परमार्थ-पथमें आगे बढ सकते हैं। परन्तु आजकल तो पवित्र दूध मिलना भी कठिन है। गायोंको कृत्रिम भोजन दिया जाता है। पवित्र आम्रफल भी मिलने कठिन हैं। ईखमें भी न जाने कैसी अपवित्र खाद दी जाती है।

इसीलिये शास्त्रमें ऐसी पूजा वर्णित होनेपर भी व्यवहारमें तुलसीजीके लिये वह घातक हो उठती है। आपने जिस तुलसीको पुष्करमें सींचा था, उसके लिये मालीका कथन है कि वह अब हरी हो ही नहीं सकती। अतः मेरी यही राय है कि आपको प्रतिदिन शुद्ध गंगाजल, यमुनाजल अथवा तीर्थ-जलसे तुलसीजी सींचनी चाहिये।

मेरा ऐसा आग्रह नहीं कि आप अनुष्ठान छोड़ दें, किन्तु इस विषयमें यदि मेरी बात आपको युक्तिसंगत अनुभव नहीं हो, तो वृन्दावनके किसी बड़े महात्मासे आपको राय कर लेनी चाहिये!

भाई ! मेरी बातोंका किसीपर असर तो होता नहीं, इसका कारण मेरी ही निष्ठामें कचाई है। जिस किसीको भी जब यह लिखता हूँ कि सब चिन्तन छोड़कर प्रिया-प्रियतमका चिन्तन करो, तो कोई भी मेरी बात मानता ही नहीं। प्रायः सभीके ये ही पत्र आते हैं कि मन चंचल है, लगता नहीं, साधन होता नहीं। अतः यही स्फुरणा होती है कि अपनी त्रुटि ही दूर की जाय। इसके बिना न तो सच्चा लाभ मुझे होगा, न ही मैं दूसरोंके लिये भी मंगलकारी हो सकूँगा। मुझे तो आपसे यही निवेदन करना है कि प्रत्येक पाँच मिनटमें, फिर तीन-तीन मिनटमें प्रभुसे एक बार अन्तर्हृदयसे विनय करें – "नाथ ! चरणोंमें शाश्वत स्थान दो।" मुझे तो यही साधन सर्वोत्तम अनुभवमें आया है। यदि आपको रूखा लगे तो आप अन्य कोई रसिक महात्मासे रसीला साधन पूछ लीजिये। कुछ भी हो, चलना तो आपको पड़ेगा, तभी पथ पार होगा।

मृत्युसे पूर्व अपनी ओरसे भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण समर्पणकी सच्ची इच्छा अवश्य हो जानी चाहिये। नहीं तो इससे अधिक हानि और कुछ भी नहीं । ऐसी इच्छा उत्पन्न होनेका कलिकालमें एक ही उपाय है। निरन्तर भगवन्नामका जप प्रारंभ हो जाय। कंजूसके धनकी तरह नाम बिना एक क्षण भी नहीं बीते।

सार-की-सार बात यही है, कि प्रिया-प्रियतमका अखण्ड स्मरण बना रहे। नीचे लिखे पद्यको प्रेमपूर्वक बार-बार पढ़ें और उसके अनुसार ध्यान करें-

रे मन करु नित-नित यह ध्यान ।
सुन्दर रूप और स्यामल छबि, जो नहिं होत बखान ।
मुकुट, सीस चन्द्रिका बनी, कनफूल, सुकुण्डल कान ।

कटि-काछिनि, सारी, पग-नूपुर, बिछिया, अनवट-पान ।।
कर-कंकण-चूरी दोउ भुजपैं, बाजू सोभा देत ।
केसर-खौर-बिन्दु सेंदुरको देखत मन हर लेत ।।,
मुख पै अलक पीठ-पै बेनी नागिन-सी लहराति ।
चटकीले पट निपट मनोहर, नील-पीत फहराति ।
मधुर मधुर अधरन वंसी धुनि-तैसी ही मुसकानि ।
दोउ नयनन रसभीनी चितवनि परम दयाकी खानि ।
ऐसो अद्भुत भेष विलोकत, चकित होत सब आय ।
हरीचन्द बिनु जुगल कृपा यह, लख्यौ कौन पै जाय ।

रे मन ! गौर श्याम सुन्दर रूपकी छबि, जो वाणीके द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती, नित्य-नित्य ध्यान कर। अहा ! युगल प्रिया-प्रियतम स्वरूपमें श्रीकृष्णके मस्तकपर तो मयूर-मुकुट शोभा दे रहा है, और प्रियाजीके मस्तकपर चन्द्रिका बनी है। श्रीकृष्णके कानोंमें कुण्डल जगमगा रहे हैं और राधारानीके कानोंमें मनफूल विराजित हैं। श्रीकृष्णकी कटिपर काछनी है और प्रियाकी नीली सारी सुशोभित है। श्रीकृष्णके पैरोंमें नूपुर रुन-झुन कर रहे हैं और प्रियाजीकी अँगुलियोंमें बिछिया एवं चरणोंमें अनवट-पान शोभा दे रहे हैं। प्रियतमके करोंमें कंकण शोभायमान हैं और प्रियाजीके चूड़ियाँ एवं बाजूबन्द शोभा दे रहे हैं। प्रियतम श्यामसुन्दरके केसर खौर एवं प्रिया राधारानीके सिन्दूर शोभायमान् है। श्रीकृष्णके मुखपर अलकावलि शोभित रहती हैं और प्रियाजीकी पीठ पर वेणी नागिनके समान लहराती है। दोनोंकी यह अभूतपूर्व सुन्दर छबि मनको हर लेती है। दोनोंके नील-पीत वस्त्र अत्यन्त चटकीले अतिशय मनोहर हैं और फहरा रहे हैं।

अहा ! प्रियतमके मधुर रसमय अधरोंमें वंशी सुशोभित है, और प्रियाजीके अधरोंमें मन्द-मुसकान विराजित है। दोनोंके नयनोंकी चितवन अत्यन्त रसभीनी है और वे दयाके खान हैं। उनका वेष ऐसा अद्भूत है कि जिनकी भी उनपर दृष्टि पड़ती है, सभी देखकर चकित हो जाते हैं। श्रीहरिचन्दजी कहते हैं कि युगल-स्वरूप प्रिया-प्रियतम राधा-माधवकी कृपाके बिना यह दर्शन संभव नहीं है।

मेरी समझमें मैंने आपके सम्पूर्ण पत्रका यथोचित उत्तर दे दिया है।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या : उन्तालीस (३९)

तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेम-रस भेव

पत्र-प्रेषक :

पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषित :

श्रीउमादत्तजी माटोलिया एवं सत्संगीजन

प्रेषण स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक :
वैशाखपूर्णिमा सं. २००५ वि.,

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागा
द्वारा किया पत्र-संग्रह ।

श्रीउमादत्तजी, (श्रीस्वामीजी महाराजने लिखवाया है)

सस्नेह राधा-राधा। आपको पत्र मिला। सत्संगकी बातें आपको स्वर्गाश्रममें इतनी मिलती होंगी कि आप सुनते-सुनते थक गये होंगे। उनसे अतिरिक्त और मेरे पास ऐसी कौनसी नवीन बातें हैं जो मैं आपको सुनाऊँ। जो कुछ आपने सत्संगमें सुना है, उसे जीवनमें उतार लीजिये, यही मेरा प्रेमभरा निवेदन है।

श्रीहितहरिवंश महाप्रभुका जो कथन सभी सत्संगियोंके लिये है, वह आपको लिख दे रहा हूँ -

तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेमरस भेव ।
सुख चाहत हरिवंस हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ।।

श्रीहरिवंश महाप्रभु कहते हैं – "भैया ! तनको तो अवश्य सत्संगमें रखे परन्तु मनको सदा प्रिया-प्रियतमके प्रेममें ही भिगोये रखें। यदि मनको प्रभुके प्रेम-रसमें नहीं भिगोया, तो मन सूखी सत्संगकी बातोंको सुन तो लेगा, परन्तु उनमें पूरी तरह डूबेगा नहीं और जबतक मन डूबेगा नहीं, जीवन संसार-जंजालसे निवृत्त नहीं हो पावेगा। मनको रस एवं स्नेह चाहिये। वह चाहे लाख समझाओ जायेगा वहीं, जहाँ रस पायेगा। और समग्र विशुद्ध रसका दान करनेमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही कल्पतरु हैं। वे ही सर्व रसनिधान हैं। अतः यदि सुखकी चाह है, तो उन परम रसनिधान कृष्ण-कल्पतरुका ही सेवन उचित है।

निकसि कुंज ठाड़े भये भुजा परस्पर अंस ।
राधावल्लभ मुख कमल निरखत हित हरिवंश ।।

श्रीहरिवंश महाप्रभु कहते हैं मैं 'पर-उपदेश कुसल बहुतेरे' की तरह केवल भाई ! तुझे उपदेश ही नहीं देता, मैं स्वयं भी दिनरात श्रीराधावल्लभका मुखकमल देखता रहता हूँ। अहा ! कैसा विलक्षण कुञ्ज है, जिसके चतुर्दिक् अशोक, कदम्ब, कचनारके वृक्ष पूर्ण कुसुमित खड़े हैं। इनके कुसुमोंके गुच्छोंसे समस्त कुञ्जस्थलकी शोभा आश्चर्यजनक रूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रही है विविध विहंगम तरुजालमें निलीन रहकर नित्य-निकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुंजेश्वरीका दर्शन प्राप्त करने अति समुत्सुक हैं। इनमेंसे अनेक पक्षी तो तृण-संकुल धरापर सुस्पष्ट व्यक्त होकर नाच-नाचकर हर्षित हो रहे हैं। कोकिलाओंका कुहू-कुहू रव समग्र वनस्थलको मुखरित कर रहा है। ऐसे सुखद शोभा भरे कुञ्ज-प्रांगणमें प्रिया-प्रियतम परस्पर एक दूसरेके कंधोंपर हाथ रखे कुंज महलसे बाहर आकर खड़े हो जाते हैं। वे इस कुंज-प्रांगणके मध्यस्थित एक परम सुन्दर पारिजात वृक्षकी ओर बढ़ते हैं। और वहाँ एक आसन-पीठमें समासीन हो जाते हैं।

सबसों हित निहकाम मन, वृन्दावन विश्राम ।
राधावल्लभलालकौ हृदय ध्यान मुख-नाम ।।

भाई ! यदि तू कहे कि मुझे तो राधावल्लभके दर्शन नहीं होते, तो तुझे उनके दर्शनका साधन बतलाता हूँ। तू सभी जड़चेतनमें श्रीराधावल्लभको भरा अनुभव कर और सबसे निष्काम मन रखता हुआ प्रेम कर। वृन्दावनकी भूमिमें विश्राम कर। हृदयमें श्रीराधावल्लभलालका ध्यान करनेकी चेष्टाकर और मुखसे 'राधाकृष्ण', 'राधाकृष्ण' नामका निरन्तर उच्चारण करता रह।

रसना कटौ जु अनरटौ, निरखि अनफुटौ नयन ।
श्रवण फुटौ जो अनसुनौ, बिनु राधा जसु बैन ।।

अरे भाई ! तेरा यह निश्चय इतना अमोघ दृढ होना चाहिये कि यदि तेरी रसना नामकी रट नहीं लगावे, तो उसे तू काट डाले, और नयन यदि उनकी छबि नहीं देखैं तो वे फोड़ दिये जावें, श्रवणोन्द्रिय कान यदि श्रीराधारानीके सुयशकी वाणी अनसुनी करते हैं, तो उन्हें भी फोड़ दिया जाय। ऐसा यदि तेरा अमोघ दृढ़ निश्चय होगा, तो निश्चय ही यह तेरा साधन दीर्घकालिक और अनवरत बिना विक्षेपके चलता रहेगा। बस, यह साधन चलता रहा – तो एक न एक दिन अवश्य तुझपर प्रिया-प्रियतमकी कृपावर्षा हो जायेगी और वे तुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर देंगे।

उमादत्तजी ! सारकी बात आपको लिख दी है।

राधा राधा राधा राधा

।।श्रीराधा।।

पत्र संख्या : चालीस (४०)

सच्चा वृन्दावन-वास

पत्र-प्रेषक :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीरामलालजी चूड़ीवाला

पत्र-प्रेषण स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)
दिनांक :
भाद्रपद पूर्णिमा, सं. २००४ वि.

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

आलोक

श्रीरामलालजी चूड़ीवालेके सम्बन्धमें इतना ही ज्ञात है कि ये श्री मोहनलालजी झुनझुनूवाला एवं राधाकृष्णजी धानुका आदिके साथी थे, एवं इन्हींके साथ वृन्दावनवास करते थे।

प्रिय श्रीरामलालजी ! सस्नेह जय श्रीराधे । (श्रीस्वामीजी महाराजने लिखाया है।)

आपका पत्र मिला। असलमें आप सभी लोग वृन्दावन जाकर एवं वहाँ रहकर भी वृन्दावन-बिहारीको नहीं देख पा रहे हैं। आपको जागरण-स्वप्न-सभी समय अधिकांशतः संसार ही दिख रहा है। यही कारण है कि जैसा जीवन आप सभीका होना चाहिये, हो नहीं पा रहा है। जबतक आप पूर्ण दृढ़ता पूर्वक ऐसा नहीं चाहेंगे, तबतक दूसरा कोई ऐसा कर दे, यह सर्वथा आशा त्याग देनी चाहिये। भजन जब तक आप स्वयं नहीं करेंगे, कोई अन्य उपाय जीवनको भगवदीय बनानेका मेरी दृष्टिमें तो है नहीं। भजन आपको ही करना होगा, चाहे आज करें, कल करें, मृत्युके समयतक कभी भी करें, अथवा जन्मान्तरोंमें मानव-जन्म पाकर करें, करना आपको ही पड़ेगा। यदि अभीसे सावधान होकर कर लिया, अनेक जन्मोंके गर्भवासका, मृत्यु एवं बुढापेके दारुण कष्टोंका विराम हो सकता है। अन्यथा ये सभी क्रम अवश्यंभावी हैं। इनसे बचना एक प्रकारसे असंभव ही है। अभी भजन करना कठिन भी नहीं है। मात्र प्रमादका ही त्याग करना है और कठोरतासे नीचे लिखे नियमोंका बिना अपवाद पालन करना है।

१. कानसे प्रिया-प्रियतमकी चर्चाके सिवा कुछ भी नहीं सुनें। दूसरा शब्द जहाँ तक संभव हो, कानमें पड़े ही नहीं।

२. आँखसे प्रिया-प्रियतम-संबंधी वस्तुओंके अतिरिक्त अन्य वस्तु देखें ही नहीं।

३. वाणीसे 'राधाकृष्ण' की पुकार ही लगी रहे।

यदि ऐसा होगया, तो निश्चय ही मानिये फिर जीवन वृन्दावन-बिहारीको निश्चय ही अर्पित हो जायेगा। आपके जीवनकी ऐसी रहनी होनेपर निश्चय ही एक दिन प्रिया-प्रियतम प्रकट हो जावेंगे और आप उनके दर्शनकर कृतकृत्य हो उठेंगे।

आपको ज्वर आरहा है और ज्वराधिक्यके कारण आप महारास देखने नहीं जा पाते, उस सुखसे वंचित हो रहे हैं, सो सभी बातें ठीक हैं। किन्तु मेरा तो यही कथन है कि कहीं आप इस ज्वर-तापको विरह-ज्वरमें परिवर्त्तित कर पाते, तो फिर महारासका ऐसा दर्शन होता कि सर्वत्र अन्य कुछ दिखना ही स्थगित हो जाता। अवश्यमेव इतना सौभाग्य तो आपका है ही कि आपमें रासदर्शनकी इतनी विकलता है। आपने लिखा कि मैं ऐसी कृपा करूँ सो आपकी मेरे प्रति सद्भावना है। भाई ! निश्चय मानिये वर्त्तमानमें मुझमें ऐसी योग्यता नहीं है। यदि मुझमें ऐसी योग्यता होती, तो निश्चय ही मैं अपनी और आप सभीकी ऐसी स्थिति कर देता।

यह प्रभुकी आपपर अतिशय महती कृपा है कि आपका शरीर श्रीधाममें निवास कर रहा है, अब मनमें व्रजधाम और बस जाय, यह भिक्षा श्रीराधारानी से आप माँगिये। यह निश्चय है कि श्रीमहारानीकी अनन्त, असीम अनुरागकी धारा श्रीधाममें प्रवाहित हो रही है। आपका मन प्रथमतः उस धाराके सम्मुख हो जाय और तब उसमें डूब जाय। उस अनुरागका मात्र एक स्रोत ही आपके मनमें खुल जाय, इतना होते ही तो उस अनुरागकी अजस्र स्रोतस्विनी अपने आप ही आपको पूर्ण अनुरागमय बना देगी, और आपको श्रीधामसे एकमेक कर देगी। निश्चय ही उस महाभाग्यवान् दिवस को आप देख पावेंगे ।

आज गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।
शरद विमल नभ चन्द्र विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी ।।
चम्पक बकुल मालती मुकुलित, मत्त मुदित पिक कीर री सजनी ।
लेत सुधंग रंग-रँग-नीकौ व्रज युवतिनकी भीर री सजनी ।।
मघवा मुदित निसान बजायौ व्रत छाँड़्यौ मुनि धीर री सजनी ।
(जै श्री) हित हरिवंश मगन मन श्यामा, हरत मदन मन पीर री सजनी ।।

भावार्थ

अहा ! कैसा मनोहर यमुनाका पुलिन है, जिसे चतुर्दिक् असंख्य कल्पतरुवृक्ष घेरे हुए हैं ? इस पावनतम पुलिनकी रजतवत् सैकतपर आज हमारे प्राणवल्लभ प्रियतम गोपाल अति रसमयी रास-क्रीड़ा करने जा रहे हैं।

कैसी सुखद शुभ्र शरद ऋतु है, आकाशमें विमल पूर्णचन्द्र विराजित है और अति सुगन्धभरी शीतल वायु मन्द-मन्द प्रवाहित हो रही है।

इस पुलिनमें सर्वत्र चम्पा, बकुल, मालती आदि पुष्प विकसित हैं एवं निशामें भी मयूर, शुक आदि पक्षीगण अतिशय मोदभरे मधुर स्वरोंमें कूजन कर रहे हैं। अहा ! असंख्य व्रजयुवतियाँ एकत्रित हुईं सम्मिलितरूपसे श्रेष्ठ प्रकारसे राग-रागिनियोंका आलाप ले रही हैं।

देवताओंके राजा इन्द्रभी अत्यन्त मुदित हो उठे हैं और अन्तरिक्षमें अपनी प्रसन्नता नगाड़ा बजाकर व्यक्त कर रहे हैं। वर्षोंसे मौन लिये इन तपस्यारत मुनियोंने भी अपना उपरामताका व्रत त्याग दिया है तथा रासदर्शनको लालायित हो उठे हैं। श्रीहितहरिवंशजी कहते हैं कि श्रीराधारानी अत्यन्त मगन मन हुई अपने प्रियतमकी प्रेमजन्य गहन पीड़ा हर रही हैं।

भाई रामलालजी ! आप प्रिया-प्रियतमके श्रीधाममें रहते हुए मुझे स्मरण करते हैं, यह श्रीराधारानीकी मुझपर अनन्त कृपाका ही द्योतक है। मेरी ओरसे श्रीधाम एवं वहाँ नित्यलीला-रत प्रिया-प्रियतमको एक दण्डवत् प्रणाम करेंगे।

आपने श्रीभाईजीके द्वारा पत्र-लिखवानेका आग्रह किया था, वे अतिशय व्यस्त हैं, अतः यह तो संभव नहीं हो पा रहा है। मेरा लिखा पत्र श्रीभाईजीको पढ़ाकर भेज रहा हूँ, आप इसे भाईजी द्वारा पठित होनेसे अनुमोदित मान लें। और क्या कहूँ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या : इक्तालीस (४१)

वृन्दावन बसि यह सुख लीजै

पत्र-प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीशिवभगवानजी फोगला, वृन्दावनधाम

प्रेषण-स्थल : गीतावाटिका, गोरखपुर

दिनांक : मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्थी, वि. २००४

प्राप्तिसूत्र : श्रीशिवकिसनजी डागाके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

आलोक

श्रीशिवभगवानजी फोगला, श्रीसेठजी जयदयालजीके पुराने सत्संगी रहे। ये ब्रज-रसके भावुक अनुरागी थे। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुत्री अ. सौ. सावित्रीबाईका विवाह इनके दत्तक पुत्र श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगलासे हुआ था। श्रीभाईजीकी प्रेरणासे प. पू. श्रीराधाबाबाने इन्हें ब्रजभाव सम्बन्धी राधाकृष्ण प्रिया-प्रियतमकी अष्टप्रहर लीलाओंकी अनेक भावनाएँ लिखकर दी थीं, जो बादमें 'केलिकुञ्ज' नामक ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। बादमें इन्होंने स्थायी श्रीधाम वृन्दावनवास कर लिया था। श्रीवृन्दावनधाममें इनके द्वारा बनाया ''फोगलाश्रम'' आज भी परमार्थ-साधकोंकी सेवामें है।

श्रीशिवभगवानजी ! श्रीस्वामीजीने लिखाया है -

सस्नेह राधास्मरण । गत पूर्णिमाको मैंने श्रीमोहनलालजीके पत्रमें संकेत दिया था कि आपको पृथक् पत्र दूँगा। अतः यह पत्र जा रहा है।

मेरे पास लिखने योग्य केवल एक ही बात है। वही घुमा-फिराकर सभीको लिखता रहता हूँ। वह बात आपको भी लिख दे रहा हूँ। जिस साधनसे

जैसे हो, मन प्रिया-प्रियतममें लीन हो जाय, इसकी चेष्टा हो। प्रिया-प्रियतमके अतिरिक्त मनमें कुछ रहे ही नहीं। यदि यह हो गया, तो सब कुछ हो गया। और यदि यही नहीं हुआ, तो कुछ भी नहीं हुआ।

श्रीअलबेली अलिजीका कैसा सुन्दर पद है। मैंने तो अपने जीवनका यही लक्ष्य निश्चय किया है, आप भी यदि इसे ही अपने जीवनमें उतार लें तो निश्चय ही निहाल हो जावेंगे।

वृन्दावन बसि यह सुख लीजै ।
सात समयकी महल टहल बिनु इक छिन जान न दीजै ।।
परम प्रेमकी रासि रसिक जे तिनहीको सँग कीजै ।
निविड़ निकुञ्ज विहार चारु अति सुरस सुधा छकि पीजै ।।
और भजन साधनमें मिथ्या कबहूँ काल न छीजै ।
दिवस निशा दुलराइ दुहुनकौं अलबेली अलि जीजै ।।

भावार्थ

रे मन ! यदि तू वृन्दावनवास कर ही रहा है तो अब इस सुखमें पूर्णरूपसे निमग्न हो जा। प्रिया-प्रियतमका जो यहाँ इस वृन्दावनमें रस-महल है, उस महलमें तू मंगला-आरती, ग्वाल, श्रृंगार एवं राजभोग, उत्थापन, भोग एवं शयन – इन सातों समयकी सेवामें चूकना मत। यदि तुझे कोई संगी-साथी आवश्यक हों तो सदैव उनका ही संग करना जो प्रिया-प्रियतमके राशि-राशि प्रेमके रसिक हैं, किसी अन्यमार्गीका भूलकर भी संग मत करना। एकान्त निकुञ्जमें चारु रसमय विहार करते प्रिया प्रियतमके प्रेमकी परम रसमयी सुधा सदा छककर पीते रहना। दूसरे मिथ्या भजन-साधनमें अपने समयको नष्ट मत करना। अलबेली अलिजी कहते हैं रात-दिन अष्टप्रहर प्रिया-प्रियतमको ही लाड़ लड़ाते रहना – इस प्रकार अपना जीवन बिताना ।

यह सार-की-सार बात आपको लिखी है। परन्तु अभी आपकी उधेड़-बुन देखते हुए ऐसा लगता है कि आपके मनमें अनेकों वासनायें, अनेकों कर्त्तव्य पूरे करनेका भाव घर किये हैं । वृन्दावनवास करके भी आपका चित्त इन वासनाओंके पीछे दिग्भ्रमित होता है। आपको कैसे समझाऊँ, जबतक ये सम्पूर्ण वासनाएँ समूल जल नही जातीं, प्रिया-प्रियतमकी डगर, गैल मिलनी कठिन नहीं, असंभव है। अभी तो सच पूछें, भजनकी नकल भी पूर्ण नहीं हो रही है। जैसे शरीर व्रजमें है, वैसे ही मनका अणु-अणु व्रजकिशोरी एवं व्रजकिशोरमें कहाँ रमा है ? वह पूरा-पूरा रम जाय, ऐसी चेष्टा करें और पूरी लगन एवं दृढ़तासे करें ।

आपके जीवनका वही क्षण सार्थक है, जिस क्षण आप प्रिया-प्रियतम एवं उनके परिकरोंका चिन्तन करते हैं। आप भले ही उत्तमसे उत्तम सेवा-कर्म करें, आश्रम बनावें, परन्तु यदि वह शुद्ध प्रिया-प्रियतमके चिन्तनमें विक्षेप उत्पन्न करता है, तो उसमें दोष निश्चय ही भरे हैं, आज वे आपके सम्मुख भले ही प्रकट नहीं हो रहे हों, कल वे अवश्य, अपना अति भीषण रूप रखकर सामने आ ही जावेंगे।

अभी आपका शरीर काम देता है। अभी आप मन तथा इन्द्रियोंको इच्छानुसार प्रिया-प्रियतमकी सेवामें नियोजित कर सकते हैं। पर पता नहीं, कब शरीर लाचार हो जाय, उस अवस्थामें बिना अभ्यास भगवच्चिन्तन होना बहुत ही कठिन हो जायेगा । अधिकांश प्राणियोंको उस समय शरीरकी पीड़ाका ही चिन्तन होता है। अतः शरीरके ठीक रहनेका सदुपयोग अभीसे कर लेना चाहिये।

सभी सत्संगी जनोंको राधे-राधे।

राधा राधा राधा राधा राधा

महाभाव-दिनमणि

श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

(वार्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार, लेख)

अध्याय छठा

(रसार्चनकी अरुणायी)

पू. श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारको समर्पित

प. पू. श्रीराधाबाबाकी प्रारंभिक अति रसभरी अनुभूतियाँ

विषय-सूची

१. प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैव कांक्षिणी

२. योऽहं ममास्ति यत्किंचित्.... चरणेषु समर्पितम्

३. वचन-माधुरी एवं मुरली-श्रवण

४. मेरा भाव-संसार भावोंके झंझावातसे प्रकट होता है

५. मैं जो हूँ .... वही वे हैं, मैं जहाँ हूँ .... वहीं वे हैं, मैं जैसी हूँ .... वैसे ही वे हैं

६. मन-इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण होता है, सभी श्रीकृष्ण ही हैं

७. इस मोर-मुकुटीका कलेवर ही मेरी समग्र सम्पदा है

८. वन-श्री क्यों फूली है ?

९. प्रिये ! आज तुम्हारा जन्म-दिवस है

१०. तुम इतने सुन्दर क्यों हो ?

११. क्या तुम मुझे अप्राप्त हो ?

१२. प्रेम किसको कहते हैं...

१३. वे ही वे, वे ही वे, वे ही वे....

१४. प्रभात जागरण
१५.कामेश्वर अंकोपरि
राजति रतिकलिते
१६. मयूर-मुक्तामणियाँ ....
१७. एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है
१८. जैसे पीताम्बर उनका है वैसे ही मैं भी उनकी हूँ
१९. भाईजी ! आप पारसमणि हैं
२०. तुम मुझे इतना क्यों प्यार करते हो ?
२१. प्रीतिका धरातल
२२. प्रेम-देशकी ओर
२३. पुष्प-चयन
२४. कैसे धैर्य रखूँ
२५. मेरे जाग्रत एवं स्वप्नको ही नहीं, मेरी निद्राको भी वे आलिंगनमें लिपटाये हैं।
२६. प्रियतम इतने प्रेम-परवश हैं के मैं उठाती हूँ तो उठते हैं, मैं बैठाती हूँ तो बैठते हैं।
२७. वे यदि मुझसे पाप करते हैं, वह अनन्त पुण्योंसे भी मंगलमय है
२८. जिस मिलनको मात्र पलकका गिरना विरह करदे, वह काचका महल ही तो है।
२९. उस समय वे मात्र मेरे प्रेमके ही आस्वाद होते हैं।
३०. निरावरित मिलनमें ही उनका प्रेमास्वादन संभव है
३१. तुम तो मेरे सदैव रहोगे ही
३२. मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है
३३. रसहीन फलका छिलका कहीं स्वादिष्ट होता है ?
३४ क्या तुम, 'तुम' 'तुम' ही रटते रहोगे ?
३५. अन्तःप्राकट्य

श्रीराधारानीकी महाभावोक्तियाँ

३६. मैं तो उनका सुख सजाती हूँ
३७. तनका त्याग, त्याग होता ही नहीं
३८. अनुशासन
३९. संयोग-वियोग कुछ होता ही नहीं
४०. प्राणेश्वरी ! क्या मैं तुझे छोड़कर कहीं जा सकता हूँ ?
४१. मैं यमुनाके पार जा ही नहीं सकता था
४२. कीर्त्तिदाके यहाँ जन्म लेनेपर भी मेरा वहाँ जन्म हुआ ही नहीं
४३. उनका कुछ तो मेरे पास है – संयोग नहीं, वियोग ही सही
४४. मैं उनकी थी, उनकी हूँ, उनकी ही रहूँगी
४५. प्रेम रहस्य
४६. मैं तो प्रीति-पिपासिनी कृष्णा-चातकी हूँ
४७. इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर

।। श्रीराधा ।।

रसार्चनकी अरुणाई

प्रस्तुति :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, 'कल्याण'

प्रथम प्रसंग

प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैव कांक्षिणी

स्थान :
डालमिया जैन एण्ड कम्पनी
डालमिया दादरी

प्राप्तिसूत्र :
गोलोकवासी श्रीचिम्मनलालजी
गोस्वामीकी डायरी

तिथि :
आश्विन कृष्ण चतुर्दशी, वि. सं. १९९६

संग्रहकर्त्ता :
गोलोकवासी श्रीगंभीरचन्द्रजी दुजारी

आलोक

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (भविष्यमें पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे प्रख्यात) के ये सभी पत्र पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको सम्बोधित किये हुए हैं। पू. स्वामीजी उन दिनों श्रीभाईजीके सान्निध्यमें व्रजभावकी परम निर्मल रस-साधना कर रहे थे। श्रीभाईजी ही उनके रस-साधनाके गुरु थे। अतः वे अपनी समग्र अनुभूतियाँ निश्छल ज्यों-की-त्यों उन्हें पत्रोंमें लिखकर निवेदित कर देते थे। पू. स्वामीजीका उद्देश्य इस नियमित पत्र-लेखनके पीछे यही था कि उनकी मानसिक स्थितिका चित्र श्रीभाईजीके सम्मुख निष्कपट स्पष्ट रहे।

पू. श्रीभाईजी पू. स्वामीजीके व्रज-साधनाके परमोच्च भावप्रधान इन पत्रोंको अतिमनोयोगपूर्वक पढकर पू. स्वामीजीकी रस-साधना परम संगुप्त ही रहे, इस पवित्र उद्देश्यसे इन पत्रोंको अति छोटे-छोटे टुकड़ोंमें फाड़कर

अपने अन्य फाड़े गये कागजोंमें सम्मिश्रितकर, कूड़ेदानीमें डलवा देते थे। वे पू. स्वामीजीकी रस-साधना-जन्य गरिमाकी अन्य लोगोंको गन्ध भी नहीं देना चाहते थे। सत्य भी है, प्रेम तो हृदयकी गुप्ततम अनुभूति है और अतिशय संगुप्त रहनेपर ही यह साधना फलीभूत होती है।

बलिहारी है, श्रीगंभीरचन्द्र दुजारीरूप भगवान् श्रीकृष्णकी, जो कूड़ेदानीके सभी फटे कागजोंको उठा लेते थे, और उन सभी फटे-पत्रोंको श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको समर्पित कर देते थे। दोनों सज्जन, तब मिलकर घण्टों अथक परिश्रमके द्वारा इन चूर-चूर हुए पत्र-खण्डोंको यथास्थिति मिलान करते थे। इस प्रकार पूर्ण हुए पत्रको श्रीगोस्वामीजी अपनी डायरीमें प्रतिलिपिरूपमें संग्रहीत कर लेते थे।

कालगति सर्वोपरि है। आज न तो श्रीगंभीरचन्द्रजी दुजारी ही हैं और न ही श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी। दोनोंको ही काल लील गया। वह डायरी जिसमें ये सभी पत्र संग्रहीत थे, श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नी सरयूदेवीके पास उनके जीवनकालतक रही। श्रीसरयूदेवी भी अपनी इह-लीला अपने पीहर बीकानेरमें अपने भाई श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीके घरपर समापन कर गयीं। श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीके परिवारमें तो वह डायरी किंचित् भी महत्वकी थी नहीं। एक दिन संकलनकर्त्ताके सौभाग्यके फलस्वरूप वह डायरी श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीकी धर्मपत्नी षोड़शगीत मन्दिर, बीकानेरको प्रदान कर गयी। इस डायरीके पन्ने इस प्रकार गल चुके थे कि उन्हें बहुत प्रयत्न करनेपर भी ***(Lamination)*** *लेमिनेशन भी नहीं कराया जा सकता था। वह डायरी टीटाघर प्रेसकी सन् १९३१ ई. की थी। जिसपर ई. सन् १९३९ के श्रीराधाबाबाके पत्र श्रीगोस्वामीजीने प्रतिलिपि कराके रखे थे। प्रतिलिपिकार* ***कौन*** *है, यह भी अज्ञात ही है।*

इन पत्रोंके लेखन का प्रारंभ आश्विन कृष्ण चतुर्दशी सं. १९९६, स्थान ***डालमिया*** *दादरीसे हुआ है और कबतक चला है, कहा नहीं जा सकता। इन* ***पत्रोंमें*** *भिन्न-भिन्न लीलाओंकी अनुभूतियोंके लघु-प्रसंग हैं। एक प्रसंगकी* ***समाप्तिपर*** *xxxx xx इस प्रकार क्रासके चिह्न लगाये हुए हैं। मात्र एक-दो* ***पत्रोंमें*** *ही तिथि दी गयी है।*

इतना निश्चय है कि ये सभी पत्र ज्ञानोत्तर प्रीतिके छलकते-उछलते निर्झर हैं । रसज्ञ पाठक निश्चय ही विशुद्ध भावराज्यकी परम पवित्र छबि इन पत्रोंके द्वारा अवश्य पा सकेंगे एवं इनके निर्दिष्ट पथसे यदि साधन करेंगे तो साफल्य भी सुनिश्चित ही है। इसी आशासे इनका प्रकाशन किया जा रहा है।

पुनश्च - गोरखपुरसे पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एकान्तवासके लिये डालमिया दादरी गये थे। उस प्रवासमें वे पू. श्रीराधाबाबाके सिवाय अन्य किसीको भी अपने साथ नहीं ले गये थे। हाँ, पू. भाईजीका परिवार अवश्य साथ था। परन्तु श्रीदुजारीजी वहाँ भी भाईजीके साथ बिना आज्ञा लिये ही चले आये थे। डालमिया दादरीके पत्र भी उन्होंने ही पू. श्रीचिम्मनलालजीको दिये होंगे। इन पत्रोंपर शीर्ष (Heading) मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिसे दिये हैं। इन पत्रोंके मूलमें शीर्ष नहीं दिये गये थे। मुझे पता नहीं ये पत्र दुजारीजीके पास रहे या नहीं। कारण, उनका सारा प्रयास पू. भाईजीकी जीवनी-संबंधी वस्तुओंपर ही केन्द्रित था। पू. राधाबाबाकी अनुभूतियोंपर उनकी श्रद्धा उतनी नहीं थी, जितनी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी रही।

साधुकृष्ण प्रेम

पू. भाईजी !

प्रणाम । आपपर बहुत विश्वास है। अतः आपको अपने मनकी भीतरी सभी बातें कह रहा हूँ। इन सभी बातोंको लिखते समय संकोच है कि आप समझेंगे कि तुम्हारे भीतर प्रच्छन्न काम विकार है। तुम इस साधनाके अधिकारी नहीं हो। परन्तु मैं आपको यही समझाना चाहता हूँ कि स्त्री मेरी भोग्या है – यह भाव मेरे भीतर कभी भी नहीं उदय होता। फिर भी ज्यों ही किसी भी सुन्दर युवती स्त्री पर मेरी दृष्टि पड़ती है, उसकी सुकुमारता, रमणीयता आदि देखकर ऐसा लगता है कि यह मुझसे अत्यधिक सौभाग्यवती है, जो इसे स्त्रीत्व एवं सौन्दर्यादि भाव मिले हैं। यह अवश्य ही श्रीमती राधारानीकी अंश-स्वरूपा है, तभी इसे स्त्रीका देहाध्यास मिला है। उस समय यही विचार मेरे भीतर हिलोरें लेने लगते हैं कि हतभाग्य ! मैं भी राधारानीका ही अंश हूँ, परन्तु मुझे पुरुषका अध्यास मिला। मैं निश्चय ही अभागा हूँ। तत्क्षण ही वैराग्यके विचार भी उदय होने लगते हैं। यह तो पार्थिव देह है, इसमें सौन्दर्य कहाँ है ? यह तो अत्यन्त मलिन है, सारा मल-मूत्र, मांस-कफ, रक्त-मज्जा, पुंजीभूत होकर गोरे चमड़ेके आवरणसे मात्र ढका है, तो इससे कोई सुन्दर थोड़े ही होता है ? मलिन मांसादिसे उत्पन्न सुकोमलता तो स्पर्श-विकार ही है। इस प्रकार घृणाके भाव भी उदय होने लगते हैं। बारम्बार इन घृण्य भावोंपर मनको केन्द्रित रखनेपर भी, न-जाने क्यों, यह बात चित्तको बहुत ही सुहावनी लगती है कि मैं स्त्री हूँ। भाईजी ! स्त्रीत्वके आकर्षणसे मन इतना अधिक आक्रान्त रहता है कि जैसे ही ये भाव उत्पन्न होते हैं, बस मन इनको छोड़ना ही नहीं चाहता। सारा

वैराग्य बह जाता है। श्रीराधाकृष्ण (मेरे आराध्य इष्ट) का चित्र-विग्रह देखते-देखते तो ये भाव और भी प्रगाढ़ हो जाते हैं। पद्मपुराणोक्त भगवान् शंकर द्वारा पार्वतीजीको बतायी साधनामें मन डूबने लगता है। निम्नश्लोक पढता हूँ, तो इसीका जप करते रहनेका मन हो उठता है :-

सुचिरं प्रेषिते काले यथा पतिपरायणाः
प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैवकांक्षिणी ।
तद्‌गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यपि शृणोति च ।
श्रीकृष्ण-गुण-लीलादि स्मरणादि तथा चरेत् ।।

इस श्लोकका जप करते-करते सचमुच ही ऐसा लगने लगता है, मानो श्रीकृष्ण ही मेरे (पति हैं) प्रियतम हैं और उनकी मैं अप्रतिम सुन्दरी, युवती प्रिया (पत्नी) हूँ। वे विदेश चले गये हैं। नारीरूपमें मेरी भावदेहकी आकृति जैसे मनमें सुस्पष्ट उदय हो आती है। मेरी घुँघराली कृष्ण-केशराशि उन्मुक्त-कबरी हुई मेरे पार्श्वमें मुझे लहराती स्पष्टतया दिखने लगती है। अपने मृणाल-नालसे बाहुयुगल, उन्नत कंचुकीबद्ध उरोज, अपना उदर, शेष सभी शरीरगत अंग अवयव प्रकट दृष्टिगोचर होते हैं। फिर इस देहकी सर्वथा ही विस्मृति हो जाती है। लगता है, जैसे वे मेरे तो हैं, विदेशवासी हैं, अतः उनसे मिलन नहीं हो पाता। इस नारीवेषमें उनसे वियुक्त रहनेके कारण मन किसी भी विषयमें नहीं लगता। निरन्तर व्याकुलता बढ़ती जाती है। जैसे ही उनका चिन्तन होता है, उनके बारेमें सोचना प्रारंभ होता है, चित्त उसमें ऐसा रम जाता है कि बाहरकी स्मृति ही नहीं रहती। अन्य सभी कार्य, भजन-पाठ, नामजप, सब छूट जाते हैं। किसी भी अन्य साधनाकी स्मृति ही नहीं होती। बस, मन इन्हीं विचारोंमें डूबता जाता है :-

"अहा ! वे कितने सुन्दर हैं, सुकुमार हैं ! उनमें निष्ठुरता भला कैसे संभव है ! अतिशय सुकोमल स्वभाव ही तो उनका है ! क्या उनके आननपर उनका यह स्वभाव नहीं दिखता ? कितना मनोरम, रमणीय उनका आनन सरोज है ! कैसे मधुर मीठे वे बोलते हैं ! कैसी निर्मल हँसी हँसते हैं ! सर्वांगोंसे पूरा जी भरकर, उन्हें देखा भी कहाँ है ? क्या कभी सर्वबाधा-विनिर्मुक्त उनसे मिल पाऊँगी ? ठीक है, अभी वे विदेश हैं, परन्तु कभी तो वे यहाँ गोकुलमें अपने माता-पिताके पास आवेंगे ही। तब तो मैं उनसे पूरी मिल ही सकूँगी। अभी तो उनका चित्र ही देख पा रही हूँ। यह चित्र भी उनका सांगोपांग कहाँ है ? इस चित्रकी रचना तो मैंने ही की है। एक दिवस पनघटपर, और एक दिवस नन्दभवनमें जो उनकी झाँकी मिली थी, उसीको अपने स्मृतिमें पूरा भरकर मैंने

ये रेखायें-भर खींच ली थीं। इन रेखाओंमें भला उनका सही चित्र थोड़े ही अंकित हुआ है। फिर भी इस चित्रके नेत्रोंसे उनकी कैसी प्रीति-भरी छबि छलक उठी है। जब उनका चित्र ही इतना मनोरम है, तो वे स्वयं न जाने कैसे मनोहारी होंगे ? उनके नेत्र कैसे सजल एवं रसभरे हैं ? भौंहें कैसी सुघड़ कटीली हैं ? उनकी चितवन कितनी मनोहारी है ? क्या उनसे कभी भी मेरी आँखें चार होंगी ? इस चित्रके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलाते ही, जब मैं लज्जासे भर उठती हूँ, तो फिर उन्हें प्रत्यक्ष मिलनेपर कैसे देख पाऊँगी ? जब वे मिलेंगे तो क्या मोर-मुकुट पहने होंगे ? मुकुट तो, पहनें चाहे न भी पहनें, मयूर पिच्छको तो वे अपनी चूड़ामें खौंसे ही रहते हैं। वह मयूर-पिच्छ उन्हें फबता भी कैसा है ?"

भाईजी ! इस प्रकार मात्र चित्र देख-देखकर उनके एक-एक अंगमें घण्टों ही मन रमा रहता है। चित्तमें इतनी अधिक मुग्धता भरी रहती है कि कालका पता ही नहीं रहता। जपकी माला हाथसे छूट जाती है। जिह्वागत स्मरण स्थगित हो जाता है। भूल जाता हूँ – इस संसारको। उनमें तल्लीनता चित्तको एकाग्र कर देती है। कभी-कभी गायनकी अथवा गायन-श्रवणकी प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। गोस्वामीजी, मधुरजी आदि उनका कोई गीत सुना देते हैं, तो लगता है, जैसे ये अपने प्यारे-से-प्यारे हैं। परन्तु आश्चर्य है, इनका पुरुष रूप प्रिय नहीं लगता। कल्पनामें इन्हें भी परम रमणीय स्त्रीके रूपमें ही देखनेका प्रयत्न करता हूँ। इनके नाम, रूप सभी परिवर्तित कर उन्हें अपने मनोराज्यका कोई प्यारा-सा नाम देनेकी ही प्रवृत्ति जोर मारती है। मधुरजीकी मयूर-वीणा तो बहुत ही उद्दीपन करती है। मेरी मनोदेशकी वीणा उनसे कुछ भिन्न अवश्य होती है। कभी-कभी घण्टों वैसी वीणा लिये, अपने इष्टके चित्र-विग्रहके सम्मुख बजाती रहती हूँ। कल्पनामें खो जाती हूँ – कभी वे बजा रहे हैं, मैं सुनती हूँ, कभी मैं बजाती हूँ, और वे उसमें अपनी बहुत ही सुमधुर मुरलीके स्वर मिला देते हैं।

भाईजी ! इसी-स्थितिको लिये एकाकी बढ़ रहा हूँ।

आज इतना ही। आगे भावदशा ऐसी हो रही है कि पत्र लिखा ही नहीं जा रहा।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - दो (२)

योऽहं ममास्ति ..... चरणेषु समर्पितम्

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

स्थान :
डालमिया दादरी
तिथि :
आश्विन शुक्ला वि. सं. १९९६

प्राप्तिसूत्र :
श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी
संग्रहकर्त्ता :
श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी

पू. भाईजी !

प्रणाम ! सर्वथा प्रारंभसे लेकर अबतक जो हुआ है, हो रहा है, किया है, कर रहा हूँ, इन सभीके होते समय, करते समय मेरे मनकी कैसी दशा हो उठती है, इसे ठीक-ठीक न तो स्वयं ही समझ पाता हूँ, न ही किसीको समझा ही सकता हूँ।

जहाँ तक स्मृति है, इसका प्रारंभ तो हनुमानगढ़ीमें ही हो गया था। इसके पश्चात् गीतातत्त्वांकका श्रीसेठजीके साथ कार्य करते हुए भी यह भावोद्दीपन बहुत ही प्रबल हो उठता था। अपनी मनोदशाको संवरित रखने, एवं कुछ भी बाह्य प्रकट नहीं हो पावे, इस भयसे मैं स्वरमें ''राधा-राधा' गाने लगता था। जबतक आपने सर्वथा मौन नहीं कराया, कोई व्रजभावका गीत गुनगुना उठता था। सेठजीके सहयोगियोंको इस मेरे गायनसे बहुत विक्षेप भी होता था, परन्तु मैं भी तो अवश था। किसीको अपनी सही मनोदशा तो बतला भी नहीं सकता था। एक दिवस गीताप्रेसके उस कमरेमें ठहरा था, जहाँ बाई सावित्रीका प्रसव हुआ था, वहाँ यह भाव और भी प्रगाढ़ हो गया था। मेरे आराध्यके चित्र भी तभीसे बदलते रहे हैं। आजकल तो एक बंगाली पत्रिकामें छपा चित्र ही मेरे इष्टके रूपमें है, जिसमें मथुरा-प्रस्थान करते श्रीकृष्ण राधारानीसे विदा ले रहे हैं।

ये सभी भाव बिना किसी योजना एवं साधनाके अपने आप स्वतः उत्पन्न हुए हैं। योजनानुसार इनकी कोई भी साधनागत परम्परा हो, किसी साम्प्रदायिक परम्पराका साधनामें आधार लिया हो, सो बात भी नहीं है।

कभी लगता है, आप साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। चाहे कृत्रिम मानसिक भावुकता ही हो, उस समय सर्वतोभावेन आपको अपना सर्वस्व समर्पण करनेके भाव बहुत अधिक प्रबल हो उठते हैं। उस समय लोक-परलोक सब आपके किञ्चित्से सुखके लिये न्यौछावर करदेनेकी स्पृहा अतिशय प्रबल हो उठती है। आपका 'पुरुषोत्तम तत्त्व' नामक लेख नित्य पाठके रूपमें सम्मिलित कर लिया है। नामजपका जबतक भाव रहता है, तबतक तो नहीं, किन्तु ज्योंही इस भावकी स्फुरणा होती है कि उनका नाम ले रही हूँ, 'हरे राम, हरे राम' महामंत्र छूट जाता है और अपने-आप ही 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' जप प्रारंभ हो जाता है।

आपको श्रीकृष्ण समझनेमें एक भय बहुत ही प्रबलरूपसे घेर लेता है कि कहीं आप मुझे त्यागकर मथुरा, द्वारिका नहीं चले जावें। आपसे मेरा वियोग हो जायगा, इस कल्पना-मात्रसे अतिशय व्याकुलता मेरे चित्तको घेर लेती है। अतः उसी समय मन विकल्प कर लेता है, नहीं, नहीं भाईजी श्रीराधारानी ही हैं।

एक दिवस, बातों-ही-बातोंमें आपने मुझसे कहा था – "स्वामीजी ! मैं तो राधारानीका एक क्षुद्रतम अंश हूँ।" बस, इसी दिवससे आपकी बातको चित्तने पकड़ली है। भाईजीने प्रकारान्तरसे तो यह स्वीकार कर ही लिया है कि मैं 'राधारानी हूँ, क्योंकि 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इस श्रुतिके अनुसार अंशांशी पृथक् नहीं हो सकते। इस सिद्धान्तानुसार आपके 'राधारानी' ही होनेकी बात मनने पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली है। मन इस पक्षमें एक तर्क और भी देता है- यदि आप राधारानीका स्वरूप नहीं होते, तो मुझे श्रीकृष्णस्वरूपका दान कैसे कर पाते ? श्रीकृष्णस्वरूपदान तो भगवती श्रीराधा ही कर सकती हैं। यह मेरे मनमें जो श्रीकृष्ण-प्रीति-विषयक भाव-भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, उन्हें जो सर्वस्व समर्पण करनेमें एक विलक्षण उल्लास होता है, वे मेरे-के-मेरे हैं – यह विश्वास प्रबलतर, प्रबलतम हो रहा है, और मेरे किसी भी आचरणसे वे एक क्षणके लिये सुखी हो जायें, ये विशुद्ध परम निष्काम प्रेममूलक सभी भाव तो श्रीमती राधारानीके ही हैं, अतः इनका मेरे चित्तमें प्रतिक्षण प्राबल्य यही दर्शाता है कि आप श्रीराधारानी ही हैं। इस भावके उठनेसे आपको अपना पूर्ण-समर्पण कर देनेका भाव बहुत ही प्रबल हो उठता है।

मन बार-बार इसी श्लोककी आवृत्ति करता रहता है :-

"योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिह लोके परत्र च ।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ।।

(अर्थात्, इस लोक एवं परलोकमें जो मैं हूँ अथवा जो कुछ किंचिन्मात्र भी मेरा है, वह सब आजसे ही हे प्रभो ! आपके चरणोंमें समर्पित है।)

कभी-कभी ऐसे दर्शन भी इस भावुक मनको हो उठते हैं, जिससे यह भाव भी अतिप्रबल हो उठता है, कि आप साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं।

एक दिवस श्री 'माधव'जी पर आप बहुत बिगड़े थे। अति रोषमें आपने उस दिवस यह भी कह दिया कि बन्द कर दो 'कल्याण'। मैं आपके पार्श्वमें ही खड़ा था। आपको अतिशय क्रुद्ध देखकर मनमें आया कि, क्या भाईजी-जैसे विशुद्ध महापुरुषको भी क्रोध आ सकता है ? उसी समय मैंने मन-ही-मन आपके चरणोंमें सरल भावसे प्रार्थना की कि "नाथ ! सिद्ध-सन्तस्वरूप दयालो! मेरे हृदयमें उठी इस मलिन मायाजन्य सन्देह-वृत्तिका समूल नाश कर दें।"

बस, इधर मेरे हृदयसे यह प्रार्थना उत्थित हुई, कि आपका पूरा रूप ही बदल गया। साक्षात् मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण ही आपके रूपमें प्रकट हो गये। मैं चकित हो गया। उस दिवससे यह मान्यता भी दृढ़ होती जा रही है कि आप इस 'पोद्दार' रूप प्राकृत कलेवरको मात्र पकड़े हैं और हैं पूर्णरूपेण भगवान् लीलाबिहारी श्रीकृष्ण ही। फिर मनमें आता है कि श्रीराधारानी एवं श्रीकृष्ण दो पृथक् सत्ता तो हैं नहीं। श्रीराधारानी श्रीकृष्णरूपमें भी व्यक्त हो सकती हैं। अतः आप श्रीराधारानी ही हैं।

आपका स्वभाव, प्रकृति भी इतनी मधुर, कोमल, हेतुरहित दयालु एवं उदार है कि इसमें आश्रयालम्बन-तत्वकी ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इसलिये अन्तमें यही निश्चय कर लेता हूँ कि आप 'श्रीराधारानी' ही हैं।

भाईजी ! मेरे मनकी जो भी ऊहापोह है, उधेड़बुन है, सब आपको निवेदन कर दी है। आगे भी जैसा नन बनता जायेगा, आपको सब सरल-चित्तसे निवेदन करता रहूँगा। आपकी एकान्त वृत्तिमें व्यवधान अनुभव हो, तो संकेत कर देंगे। फिर यह लिखना स्थगित कर दूँगा। क्षमा करेंगे।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - तीन (३)

वचन-माधुरी एवं मुरली-श्रवण

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

स्थान : डालमिया दादरी
दिनांक : अज्ञात

प्राप्तिसूत्र : श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी
संग्रहकर्त्ता : श्रीगम्भीरचन्द्रजी दुजारी

पू. भाईजी !

प्रणाम ! आजकल कुछ विलक्षण दशा हो रही है। प्रायः सोते समय मेरा भौतिक निवास-कक्ष बदल जाता है। लगता है – सामने उपवन है, उन्नत वृक्ष हैं, उनमें पुषित लतायें लिपटी हैं। सभी पुष्प विकसित हैं। भ्रमर एवं तितलियाँ गुंजार करती, नाचती हैं। यह सभी परिवर्त्तन स्वप्नमें होता है अथवा अन्तश्चेतनामें, कुछ नहीं कह सकता। मेरा मनोकक्ष (कमरा) उस समय इतनी सुमधुर गन्धसे महकता है कि नासिका उस गन्ध स्रोतको अन्वेषण करने व्याकुल हो उठती है। मेरा स्वरूप भी उस समय सर्वथा परिवर्त्तित होता है। पुरुष सन्यासी-देहके स्थानपर एक अति सुकुमार परम सुन्दरी नारी-देहमें मेरा अस्तित्व बदल जाता है।

जब यह सब परिवर्त्तन होता है, उस समय मैं किसी मखमलके पर्यंकमें सोयी रहती हूँ। न-जाने कहाँसे अत्यंत सुमधुर "प्राणेश्वरी ! प्राणेश्वरी !!" की पुकार मेरे कर्णपुटोंमें अमृत घोल जाती है। 'उस सम्बोधनकर्त्ताको अन्वेषण करूँ – मन अतिशय व्यग्र हुआ आदेश देने लगता है। अति चंचल हुई इधर-उधर अन्वेषण करने चलती हूँ परन्तु कोई भी दृष्टिपथमें नहीं आता।

कभी-कभी इस "प्राणेश्वरी' नाम-ध्वनिके स्थानपर इतना सुमधुर मनोरम वंशी-निनाद सुनाई पड़ता है कि मन करता है – दौड़कर उस वंशीवादकके चरणोंमें अपनेको न्यौछावर कर दूँ। परन्तु वह वंशीवादक अन्वेषण करनेपर भी

कहीं दृष्टिपथमें नहीं आता। प्रथमतः ऐसा अनुभव होता है, मानो यह वंशीवादन अति समीपके किसी स्थलसे कोई कर रहा है, परन्तु ज्यों ही अन्वेषण करनेका प्रयास करती हूँ, तो वह दूर-दूर होता चला जाता है। बहुत प्रयास करनेपर भी जब वह आर्श्व-पार्श्वमें नहीं मिलता, तो मन-ही-मन उसका ध्यान करती, उसके प्रेम-सुखकी कल्पनामें नेत्र मूँद लेती हूँ।

मन निर्मल प्रेमके भावोंमें डूबता चला जाता है। ज्यों ही मधुर कल्पनाएँ गहन-गंभीर होती हैं, ऐसा स्वप्नवत् अनुभव होता है कि तकियेके स्थानपर उन्होंने अपनी सुकोमल जंघापर मेरा मस्तक रख लिया है। वे मेरी कबरी-उन्मुक्त घनी बिथुरी कच-श्रेणीको सहलाने लगते हैं। कितना असीम स्नेह भरकर वे मेरे मुखपर अपनी दृष्टि स्थिर कर लेते हैं।

नेत्र मूँदे-मूँदे, मैं उन्हें स्पष्ट देखती हूँ। कैशोर-भाव उनके अंग-प्रत्यंगमें समस्त मधुरिमा उडेल रहा होता है। घुँघराली अलकें उनके कपोलों और ललाटके कुछ अंशपर झूलती कितनी प्यारी लगती हैं। कुन्तल-मण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छ सुशोभित रहता है। केशोंमें सुरभित वन्य-प्रसून ग्रथित होते हैं, नेत्रोंकी मनोहर चितवन और अधरोंपर व्यक्त हुई मृदुस्मितकी शोभा देखते ही बनती है।

परन्तु आश्चर्य होता है, भाईजी ! मुँदे नेत्र तो यह सब दृष्टिपथमें सुस्पष्ट उभरता है, परन्तु ज्योंही नेत्र उन्मीलित करती हूँ, पलकोंके उन्मेषभरसे संपूर्ण दृश्य ही तिरोहित, विलुप्त हो जाता है। स्वयंको सन्यासी वेषमें डालमियाकी कोठीके कमरेमें पाता हूँ। मेरा यह भाव-संसार नेत्रोंके मुँदनेपर ही मानो उदय होता है और नेत्र खुलते ही यह सब भाव-दृश्य अस्त हो जाता है।

मन जिन पवित्र प्रीतिके भावोंमें बहता है, उन भावोंको शब्द देना मेरी सामर्थ्यसे अतीत है। आपकी सत्ता तो मेरे भीतर भी है ही। अतः अपनी सर्वज्ञ-दृष्टिसे सब कुछ आप ही जान लें, मैं क्या कहूँ।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - चार (४)

मेरा भाव-संसार भावोंके झंझावातसे प्रकट होता है

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

स्थान : डालमिया, दादरी
तिथि : अज्ञात

प्राप्तिसूत्र : श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरीसे
संग्रहकर्त्ता : श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

आलोक

(यह पत्र मात्र क्रास देकर प्रारंभ किया गया है। प्रारंभ में 'राधेकृष्ण' लिखा गया है। तिथि एवं स्थान कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं है। अनुमान होता है यह पत्र भी दादरीमें ही लिखा गया होगा। क्योंकि गोरखपुर अथवा रतनगढ़ में तो पू. राधाबाबाके निवासके आगे लॉन था नहीं।)

भाईजी ! अब तात्त्विक विचारके सम्बन्धमें भी कुछ लिखना जरूरी समझकर लिख रहा हूँ। श्रीकृष्णके वचन कहीं भी किसी शास्त्रमें हों, बहुत ही प्यारे लगते हैं। उन्हें पढ़ते समय ठीक ऐसा अनुभव होता है, मानों अभी वर्त्तमानमें ही मुझे सम्बोधितकर वे उन्हें दोहरा रहे हों। उन विचारोंके अतिरिक्त मुझे जगत्में सबसे अधिक विश्वास आपकी बातोंपर होता है। आपकी कोई भी बात हो, सर्वाधिक आकर्षित करती है। यह प्रश्न तो उठता ही रहता है कि मैं कौन हूँ ? विचार उठने लगते हैं और सोचता हूँ, 'चक्रधर' नामसे अभिहित शरीर तो मैं हूँ नहीं। इस नाम एवं रूपसे मेरा सम्बन्ध तो केवल २९-३० वर्षका है। फिर पीछे और आगेका भूत एवं भविष्य सब अज्ञात है। मन अपने-आप ही उत्तर देता है, भाईजीसे अधिक विश्वासपात्र दूसरा और कौन है ? उन्होंने कहा है – "स्वामीजी आप राधारानीके अंश हैं।" फिर इस शरीरमें मेरी ममता एवं

अध्यास क्यों हो ? इस शरीरको मुझे उसी प्रकार भूल जाना चाहिये, जैसे मैं पूर्वजन्मके शरीरको भूल गया। मानसिक जगत्‌में तो मैं श्रीराधारानीके चरणोंमें ही स्थित रहता हूँ, परन्तु जीते हुए ही इस शरीरको कैसे सर्वथा भूला जाय ? आपके द्वारा सत्संगमें बोला गया यह दोहा निरन्तर याद करता हूँ :-

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ।

धर्मशाला (सराय) में तिल रखनेका भी स्थान नहीं देखकर जैसे यात्री लौट जाता है, इसी प्रकार यदि मनमें पूर्ण लबालब भगवान्-ही-भगवान् दिखेंगे तो संसार इस अन्तःकरणको छोड़कर चला ही जायेगा। अतः 'हरे राम' अथवा 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' निरन्तर जप करते हुए ही मानसिक सेवा भी करता हूँ। मेरी मानसिक सेवा कैसी है इसका स्वरूप बता रहा हूँ :-

आज बाहर लॉनमें बैठा नाम-जप कर रहा था। सहसा भाव बहुत ही मधुर होने लगे। भावोंकी ऐसी आँधी आ रही थी कि रोकनेपर भी रुक नहीं रही थी। इन भावोंमें बहता चला जाऊँ, इसके सिवा अन्य कोई चारा ही समझमें नहीं आ रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले भावोदय होता है, उसे रोकनेकी चेष्टा करता हूँ, तो वे भाव तीव्र झंझावातकी तरह झकझोरकर समूचे दृश्यको ही परिवर्तित करनेपर उतारू हो उठते हैं। यह परिवर्तित दृश्य अथवा निद्राके पूर्व प्रकट होनेवाला भाव-संसार दोनों ही प्रगाढ़ भावोंका ही परिणाम है। मेरी यह भाव-लहर ही उद्दाम होकर 'दृश्य एवं द्रष्टा' दोनोंका ही रूपान्तरण कर देती है। आज भी यही हुआ।

मेरा देह मुझे स्त्री-देहमें परिवर्तित दिखने लगा। सम्मुख दृश्य भी कुछ-का-कुछ ही हो गया। देखती हूँ, एक उपवनमें बैठी हूँ। मेरी पीठ मंजरियोंसे लदे एक सघन कदंब-वृक्षसे सटी टिकी है। मेरे आगे चयन किये ढेरसे सुगन्धित पुष्प पुरैन (कमल) के पत्रोंमें संग्रहीत हैं। ये पत्र कदलीके भी हो सकते हैं। पुष्पमाला गूँथ रही हूँ। कहीं दूर कोई जल-स्रोत है, क्योंकि कल-कल निनाद स्पष्ट श्रवणगोचर हो रहा है। प्रभातका प्रथम प्रहर है। वृक्षोंसे छन-छनकर धूप आ रही है। शरद्‌ऋतु है। अतिशय सुहावना वातावरण है। देखती हूँ, प्रियतम आकर मेरे पार्श्वमें आसीन होगये हैं। उनके नेत्र मेरे आननपर ऐसे मँडरा रहे हैं, उसे कोई कवि चकोरकी चन्द्रमा-तृषाकी भले ही उपमा दे सके, परन्तु वह उपमा उस अवस्थाका ठीक चित्र तो दूर, उसके आर्श्व-पार्श्व भी नहीं पहुँच पाती। उस अवस्थाका सत्य चित्रण कर सके, संभव है साक्षात् सरस्वती भी ऐसे न तो शब्द ही पा सकेंगी, न ही उपमायें ।

मैं विधाताके सम्मुख आँचल पसारकर कामना कर बैठती हूँ – हे विधाता ! मेरे परम कुरूप आननमें आज इतना सौन्दर्य तो प्रदान कर ही दे कि जिससे ये मेरे प्रियतम किंचित् सुखानुभव तो कर सकें। परन्तु साथ-ही-साथ लज्जाका संवेग भी इतना अधिक उठता है कि शरीर स्वेदसे लथपथ हो जाता है। स्वेदसे वस्त्र इतने अधिक आर्द्र हो उठते हैं कि स्वेद निचुड़कर स्वाभाविक ही बहने लगता है। समस्त शरीरके रोम खड़े हो जाते हैं। उनके नेत्र असीम प्रेमकी वर्षा कर रहे होते हैं। मुझे निहारते-निहारते ही वे परम मधुर वाणीमें कहने लगते हैं – "प्राणेश्वरी ! तुम सब प्रकारसे मेरी हो।"

ज्यों ही उनके ये शब्द मेरे कानोंमें प्रवेश होते हैं, तत्क्षण ही मेरे, लज्जासे अबतक अवनत नेत्र, उनके मुख-दर्शनका लोभ संवरित नहीं कर पाते। मात्र कुछ क्षण, मैं उनकी मुख-माधुरीका दर्शन कर पाती हूँ कि पुनः लज्जा घेर लेती है। उनकी आनन-छवि, मुसकाते मुखमण्डलको अपने हृदयमें भरकर नेत्र लज्जावश पुनः मुँद जाते हैं। कर्णपुटोंमें उनकी मधुरातिमधुर वाणी गूँजती रहती है – "प्राणेश्वरी ! तुम मेरी जीवन सर्वस्वा हो, मेरी प्राण-प्राण हो।" मैं उनके स्नेहमें डूबी मानो गूँगी हो जाती हूँ। मेरा कण्ठ रुद्ध हो उठता है। एक भी शब्द बोलनेमें वाणी असमर्थ हो उठती है। परन्तु मेरा अन्तःकरण अन्तर्वाणीसे यही उत्तर देता है – "नहीं, नाथ ! तुम मुझे कहने दो, तुम तो स्नेहके मूर्त्तिमान् विग्रह हो ही, प्रीति-रहिता तो मैं ही हूँ। अतः मुझे बार-बार अनवरत इन्हीं प्रेम-मंत्रोंको उच्चारण करने दें। यावज्जीवन इन शब्दोंका जाप मेरा रोम-रोम करता रहे। नाथ ! मुझे रोम-रोमसे अपनी बना लो। मेरे नेत्रोंके रूप, प्राणोंके स्पंदन, मनके अनुराग, भावोंके आस्वाद्य – तुम, तुम, एकमात्र तुम ही सदैव रहो। मैं होऊँ ही नहीं। तुम-ही-तुम स्वच्छन्द, अमर्याद सुख भोगो। मेरा सर्वस्व मात्र तुम्हारे चरणोंकी रज पर न्यौछावर होता रहे।"

प्रेम-मूर्च्छामें मैं उनकी गोदमें ढुलक जाती हूँ।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - पाँच (५)

मैं जो हूँ, वही वे हैं; मैं जहाँ हूँ, वहीं वे हैं; मैं जैसी हूँ, वैसे ही वे हैं

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

डालमिया दादरी

तिथि : उल्लेख नहीं

प्राप्ति-सूत्र :

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी

संग्रहकर्त्ता :

श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

भाईजी !

मेरी मानसिक दशाका एक संक्षिप्त चित्र आपके सम्मुख रखा है। सोचने लगता हूँ, यह क्या हो रहा है, उचित है अथवा अनुचित, किससे पूछूँ ? क्या यह कोई मेरा मानस-रोग है ? प्रच्छन्न काम-विकार है ? गौड़ीय साहित्य तो अवश्य ही मेरे इन मनके भावोंका पोषक है। परन्तु ये भाव मेरे भीतर अपने-आप अति वेगसे उठते हैं। पहले तो स्त्री-भावमें जब मैं होता, तो कुछ अपने सुखकी वासना दृढ़ रहती थी, परन्तु अब तो शिथिल होते-होते वह भावना सर्वथा सर्वांशमें ही समाप्त हो गयी है। श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें तो मेरा 'मम' सर्वथा-सर्वांशमें ही उनपर न्यौछावर रहता है। क्षण-क्षण वे सुखी, अतिसुखी, और अधिक सुखी हों – बस यही भाव-तरंगें उठती रहती हैं। वे अपनी रुचि-पूर्त्ति पूर्णरूपेण करें, कहीं कोई संकोच, संभ्रम उन्हें न हो, बस, यही भाव पूर्णरूपेण प्रबल रहता है।

भाईजी ! एक दिवस मेरे सम्मुख आपने अपनेको राधारानीका एक अंश, बताया था। फिर मुझे तो अपनी गति किसी भी मूल्यमें आपसे पृथक् तो सर्वथा ही स्वीकार्य नहीं है। चाहे मेरा कहीं कुछ भी हो, मैं अति नगण्य ही क्यों न होऊँ, मुझे आप अपने चरणोंकी रज बनाकर ही चाहे क्यों न चिपकाये रखें, परन्तु मैं होऊँगा, रहूँगा वहीं जहाँ आप होंगे।

भाईजी ! लक्ष्मी नारायणजीका विवाह ब्रह्माजीने कराया; शिव-पार्वतीका मिलन नारदजीकी प्रेरणासे हुआ। रुक्मिणीजीका प्रेम-सन्देश किसी ब्राह्मणने द्वारका पहुँचाया, परन्तु मेरे हाथ तो श्रीकृष्णके हाथमें आपने ही दिये हैं। मेरे ब्रह्मा, शिव-सनकादि एवं नारद सबकुछ एकमात्र आप ही हैं। आपने ही मुझे उनका रूप-ज्ञान कराया और वेणुनादरूप मंत्र सुनाया, जो प्रेम-वेदान्तका महावाक्य है।

कभी-कभी ऐसे विचार भी आते हैं कि स्त्रियोंके मध्य, स्त्री रूपमें रहते-रहते, प्रेमकी ही बातें, चिन्तन करते-करते, कहीं मेरा पतन नहीं हो जाय। ये बातें, ये विचार तभी उठते हैं, जबकि वृत्तियाँ बहिर्मुखी होकर मानसिक-सेवाके जगत्से नीचे अधिक देर रह जाती हैं। परन्तु फिर सहसा ही भावावेग ऐसा उठता है कि उस भावावेगमें सब अहं, उसकी कल्याण-कामना पूरी बह जाती है।

भाईजी ! जैसे ही वे सम्मुख आते हैं और नेत्रोंसे दृष्टिगोचर होते हैं, नेत्र चिन्मय जीवन्त हो उठते हैं। वे नेत्र मचल उठते हैं – उन्हें अपनी दृग-पुतलीमें बैठाने को।

उनका रूप मेरे नेत्रोंको प्रीतिकी परमशीतलतासे भर देता है। मेरे नेत्र अतिशीघ्र उन्हें हृदय-देशमें ले आते हैं। अब तो अनुसंधान ही नहीं रह पाता कि वे मेरे बाहर प्रत्यक्ष हैं कि भीतर ध्येय हैं। उनकी आनन-छबि मुझे मेरे केसर-कुंकुम-मंडित वक्षमें इस प्रकार अंकित दृष्टिगोचर होती है, मानों उनकी मुखाकृति मेरे वक्षमें गोद दी गयी हो। मैं, अपने हृदयमें एकात्म हुई विजड़ित उनकी मुखाकृतिसे वार्त्ता करती हूँ – "देखो ! तुम मेरे हृदयमें अब तो बस गये हो न ! मैं अब कहीं भी जाऊँ, कुछ भी करूँ, कैसे भी रहूँ, तुम तो मेरे अखण्ड, अविच्छिन्न नित्य-संगी ही रहोगे ! वे वाणीसे तो मूक-मौन रहते हैं, किन्तु उनकी प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि मेरा रोम-रोम उनसे पूर्ण लबालब भर जाता है। फिर तो भीतर-बाहर उनके सिवा कुछ भी शेष नहीं रहता। वे मुझे पूरा मिटा देते हैं। मेरी समग्र अहंता ही उनसे ओत-प्रोत, उनमें अभिन्न हो जाती है।

भाईजी ! अब ये चाहे दिखें, न दिखें, उनकी स्मृति भी हो, नही हो, मेरा उनसे कुछ भी पृथक् अस्तित्व तो रहा नहीं है। मैं जहाँ हूँ, वे वहीं हैं, मैं जैसा हूँ, वे वैसे ही हैं, मैं जो हूँ, वे भी वही हैं। मेरा सबकुछ उनका है। वे सब प्रकारसे मेरे हैं। अब यदि मैं गिर ही जाऊँगा तो क्या होगा ? मेरे सभी कर्म तो वे ही करते हैं। मेरा भूत्, भविष्य, वर्त्तमान सब उनका है।

कोई मेरी इन अनुभूतिपूर्ण उक्तियोंको उनके गंभीर सत्यको नहीं माने और मात्र इसे मेरी भावुकता ही समझे, तब भी 'नाम चिन्तामणि कृष्ण' यह श्लोक तो सर्वप्रसिद्ध ही है और आप अपने सत्संगमें अनेक बार इसका संदर्भ भी देते हैं। कृष्ण-नाम यदि मेरी जिह्वामें रहता है, फिर भय किस बात का ? कृष्ण नाम तो चिन्मय ही है। और भगवान्ने गीतामें यह आश्वासन भी दिया है कि "न मे भक्त; प्रणश्यति।" यह वचन तो झूठा है नहीं। 'राधा' नाम उच्चारण करता ही रहता हूँ, अतः इस नाते, उनका भक्त भी कहला ही सकता हूँ। यदि गिर ही गया तो कहाँ जाऊँगा, उनसे पृथक् तो कोई भी गति है ही नहीं। अतः उनसे पृथक् तो मैं हो ही नहीं सकता। जब भगवान्की इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो उनकी इच्छाके बिना मेरा पतन कैसे संभव है ? और यदि उनकी इच्छा ही मुझे गिरानेकी ही है, तो फिर मुझे किसी सद्गतिसे, उत्थानसे लेना ही क्या है ? मैं तो प्रति दिवस ही नहीं, क्षण-क्षण ही उनसे यही निवेदन करती हूँ 'हे प्रभो ! जो आपकी रुचि हो वही हो, जिसमें आपको सुख हो, मुझे वही अभिप्रेत है।" भाईजी ! उनका प्यार अपूर्व है, अनुपम है, मैं उनके विभु प्रेममें डूबकर भी यदि गिर जाऊँगी, तो मेरी उन्नतिका तो अब कोई उपाय ही नहीं है।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - छः (६)

मन-इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण होता है, सभी श्रीकृष्ण हैं

प्रस्तुति :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

स्थान :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ़, बीकानेर राज्य

तिथि :
भाद्रपद कृष्ण ३ सं. १९९७ वि.

प्राप्तिसूत्र :
श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी

संग्रहकर्त्ता :
श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

भाईजी !

उस दिवस आपके ही मुखसे सत्संगमें भागवतका यह श्लोक सुना था -

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।।

(श्रीमद्भा. ११।१३।२४)

(अर्थात्, मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।)

भगवान् श्रीकृष्ण हंसरूपसे सनकादिको यह परम सत्य प्रकाशित कर रहे हैं। फिर मेरी मानसिक भावना भी तो श्रीकृष्ण ही है, जो सत्यके परम सत्य हैं। आपके इस सत्संगको सुननेके पश्चात् मुझे ऐसा उद्दीपन रहा कि किसी भी जन्तु, प्राणी, पदार्थ एवं मनुष्यपर यदि दृष्टि जाती, तो मुझे चिन्तन होता कि इसके अणु-अणु में श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। जब सब कुछ इन्द्रियों एवं मनसे अनुभव हो रहा है और मनका सब अनुभव श्रीकृष्ण ही हैं और मन भी श्रीकृष्ण ही है, क्योंकि उन्होंने गीतामें यह भी कहा है कि 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' – फिर

चिन्ता रही ही कहाँ ?

भाईजी ! अब तो मैं सर्वथा ही निश्चिंत हो गया हूँ। जब जीवमात्रकी सभी मानसिक हिलन-चलन ही श्रीकृष्ण हैं, तो फिर मेरी तो प्रत्येक मानसिक भावधारा ही उस मयूर-मुकुटीसे प्रत्यक्ष युक्त है। मेरा तो मिलन-वियोग, रोना-हँसना, गाना-बजाना, मेरा सम्पूर्ण संसार ही उस परम सत्य-के-सत्य – श्रीकृष्णको ही लेकर है। अबतक झूठे ही मैं – "वह मेरी मात्र कल्पना है, मनकी उड़ान है" – इस सन्देहसे ग्रस्त रहा। इस शास्त्र वाक्यने तो यह निर्विकल्प सिद्ध कर दिया कि सोते, जागते, स्वप्न देखते अथवा मानसिक प्रेमका उनके साथ संसार बसाते, मैं जिन भावनाओंमें बह रहा था, वे सभी परमसत्यकी सत्य हैं।

अब तो स्थूल जगत्में भी, जब मुझे भूख-प्यास लगती है, अथवा शरीरगत रुग्णता-जन्य जो भी कष्ट होता है, उस समय यही अनुभव होता है कि इन सभी रूपोंमें साक्षात् मेरा मयूर-मुकुटी ही आया है। क्योंकि बीमारी, कष्ट, भूखकी सभी संवेदनाएँ तो मनके ही द्वारा हो रही हैं और मेरा मन अथवा उसके संकल्प-विकल्प सब मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। मैं तो मेरे परमाराध्य प्रियतमसे प्रार्थना करने लगता हूँ – "दयालो ! मेरे जीवन-सर्वस्व !! इस रोग-कष्ट, भूख-प्यासादि विकारों और भोग एवं तृप्तिरूप वासनाओंके रूपमें आप क्यों आते हैं, मेरे सम्मुख तो अब सदा मुरली-मनोहर, मेरे प्राणपति ही बनकर रहा करो।" बस, जैसे ही मेरी यह प्रार्थना होती है, भाईजी ! वे मेरे प्रियतम तुरन्त ही अपने विशुद्ध श्रीकृष्णरूपमें परिणत हो जाते हैं। फिर तो मेरी जहाँ भी दृष्टि जाती है, वे वहीं से प्यार बरसाते दृष्टिगोचर हो उठते हैं। अहा ! उस समय उनका मयूर-मुकुट, घुँघराली अलकावलि, केसर तिलक, शुभ्र ललाट, उस पर कस्तूरीकी चित्रकारी, कुण्डलोंकी झलमल आभासे दमकते कपोल, अधरोंपर मन्द-मुसकान, गलेमें वनमाला – सभी तो परम विलक्षण होते हैं। क्षुधा और तृप्ति दोनोंके रूपमें वे ही जब मेरे उदरमें मुसकाते दिखते हैं, रोग और कष्टके रूपमें जब वे ही अपनी त्रिभुवन-कमनीय छटा छिटकाते दृष्टिगोचर होते हैं, तो मैं निहाल हो उठता हूँ।

भाईजी ! ऐसे मेरे प्राण-सार-सर्वस्वको मैं किस उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन, यश-अपयश, वाद-विवाद, गति-अवगतिके लिये छोड़ दूँ ? वे मेरे-के-मेरे हैं, वे मेरे नयनोंकी ज्योति हैं, कानोंके कर्णफूल हैं, वे मेरी सीमन्तके सौभाग्य-सिन्दूर हैं, मेरे आननके मधुकर हैं, मेरी श्वास-प्रश्वासके मधुरतम सुरीले संगीत हैं, मेरे हृदयके हार हैं, मेरे मनके मनसिज हैं, मेरे

चित्तकी वे ही चैतना हैं, मेरी ममता हैं, मेरी प्रीति हैं, मेरे रोम-रोमकी वे ही पुलकावलि हैं, मेरी सुख-राशि हैं, वे ही मेरे सर्वाभूषण हैं, मेरी गुणराशि हैं, मेरे सत्य-के-सत्य, जीवन-के-जीवन हैं।

फिर उन्हें मैं चाहूँ तो छोड़ भी सकती हूँ क्या ? जब वे मुझे छोड़ें, तब न, उन्हें मैं त्याग पाऊँ। वे पलककी ओट हों तब न उनका अदर्शन हो; जब मेरे अहंकारको ही उन्होंने अपनी प्रेयसी (प्रिया) बनाली, तो वे कैसे छूटेंगे ? जहाँ भी मेरी दृष्टि जाती है, वे वहींसे प्यार बरसाते दृष्टिगोचर होते हैं, तो उनका त्याग कैसे संभव है ? त्याग उसीका संभव है – जो सर्वत्र नहीं हो। उनकी प्रेम-कल्पनामें खोये रहना तो मेरा परमातिपरम सौभाग्य है। उनकी प्रीति ही मेरा स्वत्व है। वे मेरी सुखराशि हैं। कोई दुःख एवं दुर्भाग्यको तो भले ही त्याग दे, सुख एवं सौभाग्य भी कभी त्यागा जा सकता है क्या ? अब मुझसे तो उनके बाहुओंका आलिंगन त्यागा जायेगा नहीं, चाहे मेरी जो भी बुरी-से-बुरी गति हो सो हो। भाईजी ! जैसे मैं उन्हें नहीं त्याग सकती, वैसे ही वे भी मुझे त्याग सकते नहीं, परन्तु क्योंकि, वे कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्समर्थ हैं, अपनी अचिन्त्य सामर्थ्यसे मेरा त्याग भी कर दें, तो भी मैं तो उनकी ही रहूँगी ।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - सात (७)

इस मोर-मुकुटीका कलेवर ही मेरी समग्र सम्पदा है

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

स्थान :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारकी हवेली
ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

दिनांक :
उल्लेख नहीं

प्राप्तिसूत्र :
श्रीचिम्मनलालजी
गोस्वामीकी डायरी

संग्रहकर्ता :
श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी

भाईजी !

इस मेरे प्राणोंके सार-सर्वस्व मयूर-मुकुटीकी प्रेम-चर्चा किससे करूँ ? इस जगत्में आपके सिवा मेरा है ही कौन ? किसके सम्मुख अपना हृदय खोलकर अपने मनके प्रेमकी गुप्ततम बातें कहूँ ?

भाईजी ! मैं अनन्तकालसे उन्हें देख रही हूँ, अनन्त-रूपोंमें उन्हें देख रही हूँ, परन्तु जानती-पहचानती नहीं थी, आज पहचान पायी। यह अन्तिम भाव आजकल निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। अपने मानसिक भाव-जगत्में जब डूबी रहती हूँ, तब उन परम रसमय दृश्योंका अनुभव तो मनसे ही होता है, तो मनसे अनुभूत सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण, आज तो रात्रिके बारह बजेतक सर्वत्र उन्हें देखती रही। मुझे तो श्रीकृष्णमयी होकर कृष्णमयी लीलाओंमें अनन्त-कालके लिये समाविष्ट हो जाना है। मेरे मनकी जहाँतक पहुँच है, मुझे तो परम एवं चरम तत्त्व यही दृष्टिगोचर होता है।

इस मोर-मुकुटीका प्रेममय कलेवर ही तो मेरे लोक-परलोकको सम्पूर्ण सम्पदा है। जब यह मेरे सम्मुख होता है, तो लोभी जैसे धनको बार-बार

सम्हालता, गिनता और देख-देखकर हर्षित होता है, उसी प्रकार मैं तो इसे आलिंगनमें बाँधे इसके रोम-रोमको मेरे नयनोंकी पलकोंसे निर्मंच्छन करती रहती हूँ। जब इसके अंग-अंगको हृदयसे सटाती हूँ, उसको अधरोंसे संस्पर्श करती हूँ, तो मुझे ऐसा अनुभव होता है – मानों मैंने त्रिलोकीकी सब सम्पदाओंका आधिपत्य प्राप्त कर लिया है। यह मुझे न-जाने कहाँ-कहाँ, अज्ञात एकान्त कुंजस्थलोंमें ले जाता है और अपनी अतिशय मीठी सुरीली बाँसुरी सुनाता है, उस समय मेरी श्वास-श्वास इसके प्रेममें भीगी-नहायी रहती है। इसका सौन्दर्य मेरे नेत्रोंके द्वारसे हृदयमें प्रविष्ट हुआ, उसे जगमगाता रहता है। इसके साथ मेरी जितनी केलि सम्पन्न होती है, यद्यपि वहाँ देहगत मलिनता तो सर्वथा नहीं है, परन्तु उसमें स्त्री-पुरुषोचित शृंगारिक क्रीड़ाएँ तो सभी होती ही हैं। सन्यासधर्मके अनुसार तो उनका चिन्तन सर्वथा वर्ज्य है ही। परन्तु मेरा मन तो निरन्तर उनमें ही रमण करता, इस संसार को ही भूला रहता है। इस केलिमें मेरी सब संगिनी-सखियाँ सम्मिलित होती हैं। अतः उनके अंग-प्रत्यंगोंका मानसिक दर्शन एवं ध्यान प्रगाढ़ भावसे होता ही रहता है। इन सबमें इतना रस आता है कि सामनेका स्थूल संसार ही विस्मृत हो जाता है। तो क्या भाईजी सचमुच ही मैंने पतनके द्वार खोल लिये ? मेरा मानसिक चरित्र-पतन हो गया ? भाईजी ! अब तो मैं इस मार्गमें इतना निर्लज्ज, निर्भय हो गया हूँ कि पतनका भय भी समाप्त हो गया है। हृदयमें एक आशंका तो अवश्य ही संकोच कराती है, कि कहीं आपके विपरीत (प्रतिकूल) मेरे आचरण तो नहीं हो रहे। आपका संग छूट जानेकी आशंकासे काँप उठता हूँ। परन्तु भाईजी, मनकी यही दशा है। आपसे कपट करनेसे लाभ ही क्या ?

सोचता हूँ – "**करी गोपालकी सब होय**" यदि श्रीकृष्णको आपका एवं मेरा संग छुड़ाना ही होगा, तो छुड़ा देंगे। अपनी प्रिया-मुझको यदि वह नारकीय-देह देकर नरकोंमें ही ले जायेगा, तो क्या वहाँ इसकी प्रीति-नदी सूख जायगी ?, जैसे इस समय मैं इसकी समाराधना कर रही हूँ, वहाँ भी वैसी ही समाराधना करती रहूँगी। घोर कुंभीपाक और रौरवादि नरकोंमें भी मैं इसे नयनोंमें अंजनकी तरह ही आँजे रखूँगी। यह वहाँ नरकोंमें भी निश्चय ही मेरे हृदयका हार बना रहेगा। मेरे ललाटका सौभाग्य-तिलक और मेरे कानोंका कर्णभूषण बना, यह तो सर्वकाल, सर्वगति, एवं सर्व-अवस्थाओंमें मेरे साथ ही छायाकी तरह रहेगा। चाहे वह नरक हो, स्वर्ग हो किंवा अपवर्ग हो।

भाईजी ! जब इस नन्दतनयके साथ वन-वन डोलना ही मेरी नियति है, तो इसकी सक्षम भुजाओंके भरोसे नरकमें भी घूम-फिर आऊँगी। आज जब

वनके मयूर, चातक, पिक, कपोत, शुक एवं सारिकाएँ हमारी प्रीतिकी साक्षी हैं, तो कल यमदूत, यंत्रणाएँ देनेवाली नारकीय जीव-योनियाँ हमारी प्रीतिकी साक्षी होंगी। आज वनके कदम्ब, कुञ्ज-निकुंज हमारे प्रीतिके आश्रय-स्थल होते हैं, तब रौरव और कुम्भीपाक नरकके दारुण यंत्रणागृह हमारे आश्रय होंगे। इतना निश्चय है, उस अवस्थामें मैं मेरे प्राणपतिको अपनी शपथ देकर अवश्य मना करना चाहूँगी कि वह यह कर्म-भोग मुझे अकेले ही भोगने दे। वह तो मात्र मेरे सुख-सौन्दर्य और सौहार्दका ही भागीदार रहे। मेरे हृदयकी अन्यतम यही अभिलाषा थी, है एवं आगे भी रहेगी। मैं तो यही चाहूँगी कि उन दिनों वह मेरी स्मृति-पथसे भी दूर चला जाय, क्योंकि यदि मैं उसे स्मृतिमें रखूँगी, तो वह भी मुझे स्मरण करेगा, और तब उसे अपने निकट आनेसे वर्जित कर देना एक प्रकारसे असंभव ही होगा। परन्तु जैसा उसका मेरे प्रति प्यार है, वह मेरे मना करनेपर भी वहाँ आ ही जायेगा। और ज्यों ही वह उन नरकोंमें आया, नरक, नरक रह ही नहीं सकेंगे।

भाईजी ! मेरे तनको ही कोई कर्मराशि नरकगति दे सकती है, मेरे मनको तो अपने प्राणधनके चरणोंसे पृथक् किसी भी विधान द्वारा कोई भी विधाता कर नहीं पावेगा — यह निश्चय है और मेरा मन ही यदि आपके सत्संगमें सुनी भागवती-निष्ठाके अनुसार श्रीकृष्ण है, तो नरकोंमें भी मैं रहूँगी निश्चय ही उनके नयनोंमें नयन उलझाये, बाहुओंमें बाहु गूँथे, एक दूसरेके अंगोंमें अपने अंग समाये ही। मेरा मन तो ऐसा ही हो गया है कि वह विश्राम ही पाता है — नीलचन्द्रकी प्रीति-ज्योत्स्नामें। उसकी तो सौभाग्य-शय्या ही मेरे प्राणवल्लभकी गोद है। यदि किसी भी उत्तमोत्तम आदर्श गतिके लिये मुझे नीलसुन्दर प्राणपतिको छोड़ना पड़े — उससे अच्छी सुभग बात तो मेरा नरकोंमें पड़ना ही होगा।

एक दिवस उन्होंने मुझसे कहा — देखो ! प्रिये, यह संसार तो कर्मसे बना है। आओ, चलें अपना पृथक् प्यारका संसार बनावेंगे।" मैं उनके पीछे चल पड़ी। अपनेसे सटाये वह मुझे न-जाने कहाँ-कहाँ ले चला? एक कदम्ब-कुञ्जमें उसने ढेर-सारे पुष्प बिछाकर मुझे बैठा दिया। कहने लगा — "अब प्यारका आकाश बनाता हूँ, प्यारकी ही पृथ्वी, जल, अग्नि, प्राण, पवन, वृक्ष, नद-नदी सब प्यार ही प्यार, मात्र विशुद्ध प्यार।" अहा ! वह कैसा प्रेममय संसार था। मैं उसकी प्रेम-किंकरी, तुच्छातितुच्छ चरणदासी। वह उसका प्रेम-स्वभाव ही है कि असंख्य उत्तमोत्तम रूप-गुण-शील-सम्पन्न उसकी प्रेयसियोंके रहते, वह मुझ परम अधम, रूप-गुण-शील-हीना एक दासीपर अपना प्रेम न्यौछावर

करता है। मैं तो सर्वथा विस्मृत ही कर गयी हूँ कि मेरे कोई माता-पिता, पति, पुत्र, सास-ससुर, भाई-बन्धु भी हैं। उसके प्यारने – मेरा अपना आपा भी कुछ है- इसके भी जब संस्कार नहीं रहने दिये, तो परिजन-परिवार, लोक-कुल-जाति-मर्यादा,धर्म-संसारकी तो बात करना ही व्यर्थ है। अबतो मात्र मैं हूँ और वह है। उसका प्यार मुझे चतुर्दिक् लपेटे रहता है। मैं तो अपने बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, आगे-पीछे मात्र या तो उसे देखती रहती हूँ, अथवा उसके प्यारमें पगी-भीगी रहती हूँ। मेरे लिये तो यही सर्वप्रेय एवं श्रेय प्रतीत होता है।

भाईजी ! यह अति विस्तार वाला आकाश आप देख रहे हैं न ! इससे बृहत् भला कुछ भी संभव हो सकता है क्या ? परन्तु मैं सत्य कह रही हूँ कि इस आकाशसे भी बृहत् उन्होंने मुझे प्यार दिया है। इतनी अधिक आत्मीयता (अपनापन) उनकी मुझसे है। यह केवल साहित्य नहीं है। उनके आलिंगनमें बँधी, जब मैं उनके श्वासोंको गिनती हूँ, तो ऐसा लगता है कि उनके प्राण मेरे बाहर ही नहीं मँडरा रहे, वे मेरे स्वयंके प्राण ही हो रहे हैं। उनकी श्वास-प्रश्वाससे ही मैं जीवित हूँ।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - आठ (८)

वनश्री क्यों फूली है ?

प्रस्तुति :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

स्थान :	*प्राप्तिसूत्र :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी	श्रीचिम्मनलालजी
पोद्दारकी हवेली,	गोस्वामीकी डायरी
ग्राम., पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)	*संग्रहकर्त्ता :*
दिनांक : उल्लेख नहीं	श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

भाईजी ! आज रघुनाथ पार्कमें सायंकाल घूमने चलागया था। वहाँ पर बैंचपर बैठा, खिले पुष्पोंकी शोभा देख रहा था। सहसा दृश्य बदल गया। खुली आँखों से स्पष्ट अनुभव हो रहा था, मानो मयुना तट-वर्ती कोई निकुंज हो। वहाँ तो कोई जलकी बहुलतावाला स्थल भी नहीं है, परन्तु मुझे तो उस समय वहाँ यमुनाजी लहराती दर्शन दे रही थीं। यमुनामें नीलकमल एवं रक्तकमल दोनों खिले थे। चतुर्दिक् बसन्त मूर्त्तिमान् लहरा रहा था। लतायें पुष्पोंसे लदीं वृक्षोंसे लिपटी थीं। निकुञ्जके चतुर्दिक् फैला विस्तृत वन-क्षेत्र भी सुषमासे लकदक कर रहा था।

भाईजी ! वे मेरे पार्श्वमें ही थे। एक क्षणके लिये भी तो वे मुझसे वियुक्त नहीं होते। यदि वे कभी अलग होते भी हैं, तो मैं उनसे मानसिक संयोग कर लेती हूँ। उनसे मेरा वस्तुतः संयोग और मानसिक संयोगमें अन्तर ही क्या है ? हाँ ! उस समय, सारा बाह्य-दृश्य उनके साथ ही मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों व्यक्त हो जाता है। नेत्र मुँद जाते हैं, तभी मेरी आँखें उन्मीलित होती हैं। अन्यथा तो मेरे नेत्र कभी उन्मीलित होते ही नहीं। हों भी तो किसके लिये ? वे यदि दृश्यमें नहीं हों, तो फिर दृश्यमें देखनेको है ही क्या ?

तो प्रीतिसे भरे हम दोनों वन-शृंगार देख रहे थे। अचानक वनके पुष्पोंसे वे मेरा शृंगार करने लगे और मैं उनका। वनश्रीके रूपमें उनका प्रेम ही सर्वत्र खिल रहा था। सज्जाके रूपमें अपने प्यारसे ही तो वे मेरे रोम-रोमको

आपूरित कर रहे थे। जब वे मेरा शृंगार कर चुके, तो मैं उन्हें सजाने लगी। उनका शृंगार करते-करते ही मैंने उनसे प्रश्न कर दिया – "प्राणनाथ! यह वन-श्री आपकी उपस्थिति-मात्रसे इतनी प्रफुल्लित क्यों हो उठती है ?"

वे प्यार भरा कटाक्ष करते हुए कहते हैं – "प्रिये ! तुम्हारे लिये । यह तुम्हारी सेवाका सुख लेने नित्यनूतन सज्जित हुई तुम्हारे नयनोंको आनन्द देने प्रस्फुटित होती है।" मैं उनके प्रेममें भरी उनसे लिपट जाती हूँ।

"वल्लभ ! सुना है, पूर्व जन्ममें तुम राम थे, क्या यह सत्य है ?" मैं वक्षस्थलसे लगी उनसे प्रश्न पूछती हूँ। "ऐसा मैयाके मुखसे मैंने भी सुना है, महर्षि श्रीगर्गाचार्यजीने मेरे बाबाको भी यह निर्देश किया था।"

हम दोनों एक वृक्षके परम स्वच्छ आलवालपर बैठ जाते हैं। "तो, उस जन्ममें सीता तुम्हारी वल्लभा रही, वे पृथ्वीकी पुत्री थीं ?" मैंने उनके नयनोंमें नयन डालते हुए प्रश्न किया। उन्होंने स्वीकृतिमें मस्तक-भर हिलाया।

अब तो पूर्णतया मैं उनके वक्षस्थलमें सट गयी थी। "और तुमने राज्यश्रीको रिझानेके लिये उस धरा-पुत्रीका त्याग कर दिया ?" मेरे नेत्र उनसे यह प्रश्न करते-करते छलछला आये थे। वे भी मेरे नयनोंमें छलकती प्रीतिसे किंचित् करुण हो उठे थे।

मैं भावावेशमें भर उठी थी। "हाँ ! तुमने उस पृथ्वी – सुताको त्याग दिया और वह तुम्हारे दो पुत्रोंको महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें जन्म देकर तुम्हारे विरहमें विलाप करती पृथ्वीमें समा गयी थी।" मेरे नेत्रोंसे अश्रुधारा फूट पड़ी थी। वे मेरी भावावेशजन्य उत्तेजनाको देख हतप्रभसे निम्नमुख हो गये थे। मैं बोलती जा रही थी और मेरी वाणी सिसकियोंसे अवरुद्ध हो रही थी।

"प्रियतम ! यह वनश्री वही सीता है" जो एकांगी, प्रेमभरी, अपने नितनूतन सौन्दर्यको तुमपर अनवरत, मूक न्यौछावर कर रही है। वही धरा-वत्सला सीता ही हिमालयसे स्फुटित हुई यमुना बनी तुम्हारे चरणोंको पखार रही है। उसीने सूर्यपुत्री कालिन्दीके रूपमें तप कर तुमसे विवाह किया और पटरानी-पद प्राप्त किया । वही भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणी, सत्राजितपुत्री सत्यभामा, जाम्बवाननन्दिनी जाम्बवती, राजाधिदेवीकी पुत्री मित्रविन्दा, कोसलनरेशकी पुत्री नाग्नजिती, केकय देशकी श्रुतकीर्त्ति-पुत्री भद्रा और मध्यप्रदेशके नरेशकी पुत्री लक्ष्मणा बनी। वही अनादि-विरहिणी चातकी बनी अनवरत 'प्रीतम', 'प्रीतम' चीत्कार करती रहती है। प्राणवल्लभ ! इतने निष्ठुर मत बनो उसे शाश्वत सौभाग्यदान दो।"

मैं भावाविष्ट हुई उनके चरणोंमें लिपट मूर्च्छित हो जाती हूँ।

प्रसंग - नौ (९)

प्रिये ! आज तुम्हारा जन्म-दिवस है

रतनगढ़
रासपूर्णिमा १९९७ वि.

भाईजी ! कलकी घटनाका उल्लेख कर रहा हूँ। रातको आपके नोहरेमें रासपूर्णिमाका महोत्सव था। भगवन्नाम संकीर्त्तन हो रहा था। एक ओर दमाके रोगी एकत्रित थे। आप उन्हें पूर्णिमाकी खीरके साथ दवा देते हैं। 'राधारमण जय कुंज-बिहारी, मुरलीधर गोवर्धनधारी' कीर्त्तन श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी करा रहे थे। कीर्त्तनमें मैं सम्मिलित था, सहसा दृश्य बदलता है। स्पष्ट अनुभव होता है, पार्श्वमें थोड़ी दूरमें, जहाँ सर्राफोंकी हवेली है, यमुना बह रही है। यमुनातटसे थोड़ा हटकर तटपर एक कुटी है। उसपर चतुर्दिक् भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे लदी लतायें आच्छादित हैं। पुष्पोंकी ही छत है एवं मन्द सुमधुर गन्धसे सम्पूर्ण वातावरण भीना-भीना महक रहा है। कुटीके चतुर्दिक् छोटा-सा उपवन है। उसी उपवनमें पुष्पित कदम्बके नीचे एक काष्ठकी चौकीपर बैठी हूँ। मेरे पास पुष्पोंका ढेर लगा है। पूर्णचन्द्रकी चाँदनी अति स्नेहभरी मनोरम चतुर्दिक् छिटक रही है। विचार कर रही हूँ, इतनी शुभ्र, शीतल चाँदनीमें कहीं वे आ गये तो ? एक पुष्पमाला तो गूँथ लूँ। वही उन्हें समर्पित कर दूँगी। सहसा पदध्वनि होती है। देखती हूँ, वे उपवनके द्वार-देशपर खड़े हैं। परम सुन्दर मयूर-मुकुटी वेष, हाथमें एक परम सुगन्धित वनमाला। मैं उनके स्वागतके लिये खड़ी होती हूँ। वे बहुत ही प्रसन्न हैं। उनका खिला मुख देखकर मन नृत्य कर उठता है। उनका सौन्दर्य भी कैसा अपूर्व है ? श्यामल ललाटपर चन्दन केसरकी खौर और कुंकुमका तिलक है। घनकृष्णवर्णकी रेशमी अलकावली मस्तकपर अस्तव्यस्त हो रही है। उसपर मयूर-पिच्छ अपनी निराली छटा दिखा रहा है। अर्द्ध-निमीलित भाव-भरे नेत्र, कपोलोंपर कुंकुमकी चित्रकारी, कानोंमें कुण्डल, लाल-लाल अधरोंके मध्य कुन्दकली-सी दन्तछटा, चिबुकपर हीरामणि, वक्षस्थलपर केसरका लेपन, गुञ्जाहार और आजानुलम्बित वनमाला, कटिपर पीताम्बर, वे मन्द-मन्द मुसकाते हैं, आगे बढ़ते हैं, और मुझे अंकमें भर लेते हैं। अति प्यारसे गूँथी वनमाला मुझे ही पहना देते हैं। पुष्पहार पहनानेके साथ-ही-साथ उनके बाहु भी मुझे आकण्ठ लपेट लेते हैं। कितनी शोभा बिखेरती है उनकी मुसकान ?